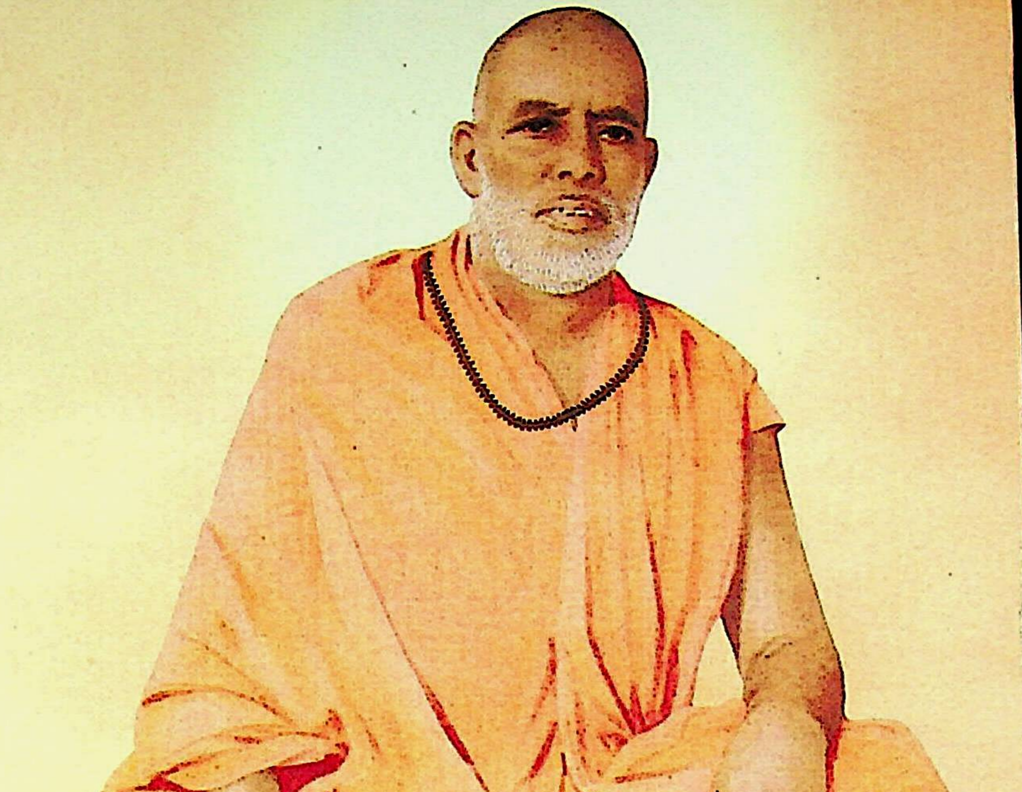


ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़िया बाबा

(जन्म शती महोत्सव के अवसर पर संस्मरण)

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़िया बाबा

([illegible])

[illegible]

[illegible]

ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़िया बाबा

(जन्म शती महोत्सव के अवसर पर संस्मरण)

☆

प्रवक्ता :

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई – 400 006
फोन : (022) 23682055

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन – 281 121
फोन : (0565) 2913043
2540561, 3292119

प्रथम आवृत्ति : 1100
संन्यास जयन्ती
26 जनवरी 2010

मूल्य : रु० 25/=

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम, वाराणसी
फोन : 2392337, 2391326

प्रकाशकीय

जन्माष्टमी वि. सं. 2031 ई० 1975 के शुभ अवसर पर ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका 'जन्मशताब्दी महोत्सव' वृन्दावनमें पूज्य बाबा महाराजके आश्रममें बड़े हर्षोल्लासके साथ मनाया गया था। सम्पूर्ण कार्यक्रम ***पूज्य महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज***की अध्यक्षतामें सम्पन्न हुआ।

उपरोक्त अवसर पर पूज्य महाराजश्री प्रदत्त प्रवचनोंको रिकार्ड कर लिया गया था। करीब 5 वर्ष पूर्व 'आनन्द बोध' मासिक पत्रिकामें इन प्रवचनोंको क्रमसे प्रकाशित किया गया था। पाठकोंकी माँगके फलस्वरूप अब ये प्रवचन ग्रन्थके रूपमें प्रस्तुत हैं। संकलकर्त्री ***श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी***की यह सेवा निश्चितरूपसे स्तुत्य है। साथ-ही-साथ पूज्य महाराजश्रीके भक्त ***श्री वी. के. नय्यर*** एवं ***श्रीमती विभा नय्यर*** (दिल्ली)के भी हम हृदयसे आभारी हैं, जिनका आर्थिक योगदान हमें इसके प्रकाशन हेतु प्राप्त हुआ है।

हमें पूर्ण आशा है कि इस ग्रन्थके माध्यमसे, प्रातःस्मरणीय श्रीबाबा महाराजके व्यकित्व एवं कृतित्वके सम्बन्धमें, पूज्य महाराजश्री द्वारा अभिव्यक्त अद्भुत एवं विलक्षण भावोंका विज्ञ पाठकजन अवश्यमेव गहराईमें अवगाहन कर लाभान्वित हो सकेंगे।

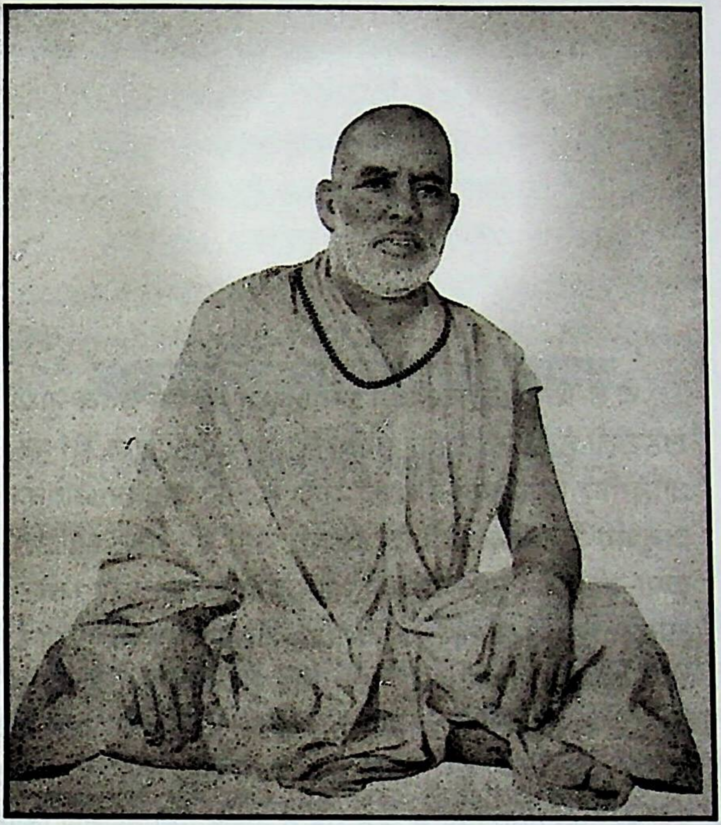
—ट्रस्टी

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई/वृन्दावन

अनुक्रमणिका

☆



श्रीपूर्णानन्दतीर्थस्फुरदमृतगवीविप्रुषाऽऽप्लावितानां,
नास्माकं मोक्षचिन्ता प्रविदितमहसां ब्रह्मभावं गतानाम्।
किन्त्वेषा बोधधारा विघटितनिखिलाकारसंस्कारकारा,
स्वच्छन्दं दन्ध्वनीति प्रतिपदमधुना तामनुव्यञ्जयामः॥

शिक्षा सर्वागमानां निखिलजनमनः पावनी कापि दीक्षा,
दीक्षा सर्वात्मदृष्टिर्निरवधिकरुणा किं नु वात्सल्यवृष्टिः।
निष्ठा ब्रह्मात्मविद्याद्युतिदलिततमस्तोमविद्वन्मणीनां,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थो जगति विजयते सत्प्रतिष्ठा यतीनाम्॥

(1)

ये हैं श्रीपूर्णानन्दतीर्थ। इस अद्भुत तीर्थसे वचन-सुधा लहराती है। हम उसके सीकरोंमें स्नान कर चुके हैं। हमें अद्वितीय ज्योतिका बोध हो गया है और ब्रह्मात्मभावका अनुभव है, मोक्षकी कोई चिन्ता नहीं है। फिर भी उस कृपा-सीकरसे प्राप्त बोधकी धारा प्रवाहित होकर समस्त आकार एवं संस्कारके कारागारको छिन्न-भिन्न कर रही है और स्वच्छन्द उपदेश-ध्वनिसे परिपूर्ण कर रही है। अब हम प्रतिपद उसीको अभिव्यक्ति देते हैं॥

श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी जय हो, जय हो! यह हमारे महाराजश्री सम्पूर्ण शास्त्रोंकी मूर्त्तिमती शिक्षा हैं अथवा निखिल जनताके मानसको पावन करनेवाली कोई दीक्षा। ये प्रदीप्त सर्वात्मदृष्टि हैं, अपार करुणाके पारावार हैं अथवा वात्सल्यकी वर्षा हैं। हो न हो, ब्रह्मात्मविद्याकी द्युतिसे अज्ञानान्धकारको दूर अपसारित करनेवाले ज्ञानी पुरुषोंके मुकुटमणि हैं। ऐसा लगता है जैसे महात्माओंकी शाश्वत प्रतिष्ठा ही इनके रूपमें प्रकट हो गयी हो॥

ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़िया बाबा

(जन्म शती महोत्सव के अवसर पर संस्मरण)

(1)

यह देखो चमत्कार, अभी स्वामी रामसुखदासजीका उपदेश आपने सुना; यह कहीं दूसरी जगह होते, वृन्दावनसे बाहर और तुम लोग इनको बुलाना चाहते तो हमारी तो हिम्मत ही नहीं पड़ती कि दूसरे गाँवसे इनको बुलावें। स्वामीश्री गङ्गेश्वरानन्दजी महाराजसे चर्चा हुई कि महाराज! बाबाकी जन्मशताब्दी पड़ती है इस वर्ष; उन्होंने कहा कि भाई मेरा मन तो चलनेका हो गया, चलूँगा। मुम्बईसे एक दिनके लिए यहाँ आ रहे हैं। महामण्डलेश्वर स्वामीश्री महेशानन्दजी महाराजको दिल्लीमें मालूम पड़ा तो कल दल-बल सहित अपने सब शिष्यगणों सहित बीस पच्चीस मूर्ति कल यहाँ पधार रहे हैं।

ये सब कैसे होता है? इस सबके भीतर कोई-न-कोई अन्तर्यामीकी क्रिया, कोई-न-कोई आकर्षण होता है ऐसा; और भी बड़े-बड़े महापुरुष आनेवाले हैं उनका नाम मैं अभी आपको नहीं सुनाता हूँ। बाबारामदासजी महाराज यहाँ पहलेसे ही मौजूद हैं, उनके आनेको हम चमत्कार नहीं

मानते हैं; क्योंकि वह तो हमारे घरके हो गये हैं। और महाराजजीके बहुतसे बिखरे हुए भक्त जो कोई कहीं रहते हैं, कोई कहीं रहते हैं—कलकत्तेसे भी आये हैं, मैसूरसे भी आये हैं, मद्राससे भी आये हैं, मुम्बईसे तो बहुत आये हैं। इधर हमारे हाथरस, अलीगढ़ और दिल्लीकी तो चर्चा ही क्या करना!

तो महाराजजीकी यह जो जन्मशताब्दी है यह उन्हींका कोई लीला-विलास है, जिससे सम्पन्न हो रहा है। मैंने आपको सुनायी थी हरिबाबाजी और उड़ियाबाबाजी महाराज दोनोंकी बात। श्री हरिबाबाजीने कहा एक वर्ष तक यहीं रहकर भागवत सुनाओ। मैंने कहा—बहुत लोग आ जायेंगे बन्दोबस्त कैसे होगा? तो श्रीहरिबाबा बोले कि भगवान्के नामका संकीर्तन होगा, भगवान्की कथा होगी हम तुम दोनों यहाँ बैठे रहेंगे और भगवान् उसका बन्दोबस्त नहीं करेंगे? बन्दोबस्त करनेवाले तो भगवान् हैं इसलिए बन्दोबस्तकी चर्चा तुम मत करो। ख्याल मत करो। एक बार सौ-दो सौ आदमी आगये इकट्ठे, भोजनका समय, मैंने उड़ियाबाबाजीसे कहा कि अब कैसे बनेगा तो बोले कि सब अपना-अपना प्रारब्ध लेकर आये हैं, हमको उनकी फिक्र करनेकी कोई जरूरत नहीं है। यह बात आपको कल सुनायी थी। असलमें जो अपनेको कर्ता मानते हैं न, यह वृन्दावनके सिद्धान्तके तो बिल्कुल ही विपरीत लगती है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज सुनाते थे कि वह पहले पहल वृन्दावनमें आये तो गेरुआ कपड़ा पहननेका उनको कभी आग्रह नहीं रहा था! जबसे दण्ड छोड़ दिया था, तबसे गेरुआ ही पहनें ऐसा कुछ नहीं था। किसीने कोई चादर ओढ़ा दिया था उनको, वही ओढ़े-ओढ़े बाबा रामकृष्णदासजीके पास गये। तो उन्होंने समझा कि कोई वैष्णव है। बातचीत होने लगी तो उन्होंने कहा कि महात्माजी तुम पौरुषको प्रधान मानते हो कि भगवान्की कृपाको? बाबा तो गङ्गातीरेके, उन्होंने कहा हम तो पौरुषको प्रधान मानते हैं, ध्यान करो और तदाकार हो जाओ तब भगवान् मिलते हैं। उन्होंने गौरसे देखा और बोले कि तुम कहीं गंगा

किनारेसे आये हो क्या? बाबा बोले—हाँ महाराज, हम तो गङ्गा किनारेसे आये हैं। बाबा रामकृष्णदासजीने कहा कि तब तुम अभी फिर गङ्गा किनारे जाओ और उपनिषदोंका खूब अभ्यास करो। जब वहाँका काम पूरा हो जाये और यह हो कि अब हमारा कोई कर्तव्य नहीं है, कर्तापन नहीं है, भगवान्‌की जो मर्जी होती है सो ही होता है। उनकी कृपाका, माने सोलहों आने आश्रय जब हो जाय तब तुम वृन्दावनमें आजाना, ऐसा श्रीरामकृष्णदासजी महाराजने कहा कि वृन्दावनमें तुम तब आना जब भगवत्कृपा पर तुम्हारा सम्पूर्ण विश्वास हो जाय। यह पौरुषका धाम नहीं है यह भगवत्कृपाका धाम है। देखो; यह आपको दो महापुरुषोंकी सूक्ति बतायी।

महाराजश्री जैसे रहते थे तो ऐसा नहीं लगता था कि वह कोई धरती पर रहते हैं या आसमानमें रहते हैं या संसारमें रहते हैं, हमेशा ही एकरस, एक-सी स्थिति उनकी बनी रहती थी। आपको शायद सुनाया होगा एक हाथरसके पण्डितजी हैं, महाराजके बड़े कृपापात्र हैं और एक माता थीं वह भी महाराजकी बड़ी कृपा पात्र। माताजीका प्रेम अधिक था और पण्डितजीकी श्रद्धा-भक्ति बहुत अधिक थी। दोनोंमें एक दिन हो गया विवाद। पण्डितजीका कहना था कि महाराजजीका स्वभाव बड़ा दयालु है, बड़ा कोमल चित्त है और माताजीका कहना था कि यह तो बड़े निष्ठुर हैं। दोनोंमें थोड़ी देर तक बातचीत हुई इसी बीचमें महाराज आगये। शिष्टाचार तो आप जानते ही हैं कि जब अपनेसे बड़ा कोई आजाय तो अपना वाद-विवाद, अपना लड़ाई-झगड़ा सब बन्द करके उसका स्वागत-सत्कार करना चाहिए। 'ऐटीकेट' तो यही है न! इतिकृत्य है मनुष्यका यह, ऐटीकेटको इतिकृत्य बोलते हैं। एक 'इतिकृत्य कौमुदी' नामका ग्रन्थ है संस्कृत साहित्यमें और वह बीस-पच्चीस जिल्दोंमें छपा हुआ है। 'तत्रेति इति कृत्यं उपशिक्ष' श्रीमद्भागवतमें इतिकृत्य शब्दका प्रयोग है। यह ऐटीकेट है। दोनों चुप हो गये। उन्होंने कहा महाराज हम दोनोंमें एक विवाद है; एकका कहना है कि आप बड़े दयालु हैं दूसरेका कहना है कि आप बड़े निष्ठुर

हैं। तो आप ही बताइये कि आप क्या हैं? जवाब तो महाराजका तत्काल तैयार ही रहता था हाजिर जवाबी वैसी और लोगोंमें दिखती होगी पर हमने अपनी छोटी-सी उम्रमें और सत्संगकी दशामें किसीसे इतना बढ़िया प्रश्नोंका उत्तर सुना नहीं। उन्होंने कहा—'हाँ बेटा मैं स्वभावसे दयालु हूँ और स्वरूपसे निष्ठुर हूँ। स्वरूप मेरा असंग है उसमें दया- मायाका कोई काम नहीं और स्वभाव मेरा दयालु है।' इतने दयालु थे महाराज कि एक-दो बार ऐसा प्रसंग देखनेमें आया कि दूसरेका दुःख देखकर बेहोश होकर गिर पड़े। अब लोग कहेंगे कि यह कैसा ब्रह्मज्ञानी? हमने देखा है सो आपको बताते हैं।

एक सज्जन थे, यहीं वृन्दावनमें थे, उनका बहुत नुकसान हो गया, तो नुकसान होने पर उन लोगोंको कितना दुःख हुआ यह बात तो अलग है; उनको इस नुकसानसे कितनी तकलीफ होगी यह सोचकर बाबा जैसे बेहोश हो गये। और फिर जिनका नुकसान हुआ था वह आकर कहने लगे—'महाराज जो हो गया उसके लिए आप इतनी फिकर न करें।' यहाँ हमने देखा है।

लगाव कितना था उनका; गाँधीजीकी मृत्युका समाचार रेडियो पर आया, संयोग वश वह जहाँ पर बैठे हुए थे उनके यहाँ रेडियो बज रहा था। पाँच साढ़े पाँच बजे रेडियोने और सब प्रोग्राम बन्द करके सुनाया कि गांधीजीकी हत्या कर दी गयी और उस समय उनकी आँखसे झर-झर आँसू बहने लगे क्यों भाई! यह जो कच्चे ब्रह्मज्ञानी होंगे न! वह तो कहेंगे कि यह कैसा ब्रह्मज्ञान है जिसमें आँसू गिरता है। हम कहते हैं वह कैसा ब्रह्मज्ञान है जो आँसू गिरनेसे बिगड़ जाता है। भई; महापुरुषकी पूर्णता एक ढंगसे नहीं पहचानी जाती। साधनाका क्षेत्र अलग होता है। हमने उन प्रामाणिक व्यक्तियोंसे सुना है, यह नहीं कि कोई ऐसा वैसा कह जाय, परमहंस रामकृष्णको तो आप जानते ही हैं, भला कौन ऐसा धर्मात्मा पुरुष है भारतवर्षका, जो परमहंस रामकृष्णको न जाने? उनकी पत्नीका नाम था शारदा माँ। हम यह बात इसलिए ज्यादा गंभीरतासे जानते हैं कि जब मैं गृहस्थ था तब परमहंस

रामकृष्णके साक्षात् शिष्य स्वामी योगानन्दजी महाराजसे मैंने श्रीकृष्ण मंत्रकी दीक्षा लेकरके उपासना की थी और उपासना शास्त्रकी जैसी विधि है वैसे वैधवती दीक्षा ग्रहण की थी और जैसे सांगोपांग उसका अनुष्ठान होता है वैसा अनुष्ठान किया था। तो शारदा माताजीकी सेवामें रही हुई जो माताजी थीं वह बादमें हमको बहुत प्रेम करती थीं। कभी-कभी तो जैसे शिवरात्रिका व्रत आजाय तो रातभर हम शंकरजीकी पूजा करते थे चार बार और वे हम लोगोंके लिए प्रातःकालीन भोजन तैयार करती थीं। नब्बे-चौरानबे वर्षकी उम्र होने पर भी जब मैं संन्यासी होनेके बाद उनके पास आनन्दमयी माँके उत्सवमें बनारस गया तो, हमारे साथ कई लोग थे, तो हमारे जाते ही उनकी कड़ाही चढ़ गयी, इतना प्रेम करती थीं। तो यह असलमें वही माताजी थीं जो जब रामघाटमें श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके पास आयीं तो महाराजका नियम यह था कि हमारे आसपास, हमारी आँखके सामने कोई स्त्री न आने पावे, इस नियमसे श्रीमहाराज रामघाटमें विराजमान थे। और बालूमें भजन करनेके लिए ध्यानस्थ होकरके बैठ जाते। दस एक वर्ष तो लेटे नहीं धरती पर। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज बैठते थे, तो बैठे रहते थे। आपने सुना होगा, एक बार दस-बारह बड़े-बड़े महापुरुष इकट्ठे हुए थे, रात भर सत्संग जमा रहा और उनका आसन बदला नहीं। एक ही आसनसे बैठे और बैठे ही रह गये। जब यह बात बतायी थी उन्होंने तबतक मैंने भी उड़िया-बाबाजी महाराजका दर्शन नहीं किया था। तो वे हमको 'रे रे' करके बोलती थीं—'रे सन्तनु' ऐसे करके बोलती थीं—अरे तू क्या जानता है? तुमको क्या मालूम है, महात्मा लोग कैसे होते हैं? वह बताती थीं कि उनके सामने यह नियम था कि कोई स्त्री महाराजजीकी आँखके सामने न जाय। लोग दूर-दूर बैठके इसके लिए पहरा देते थे। तो जब वे आयीं तो उनके लिए भी वही रोक; तो उन्होंने कहा कि जाकर पूछो उससे (बाबाजीसे) कि वह माँके पेटमें-से निकला है कि नहीं निकला? कहीं सीधे आसमानमें-से आया है कि माँके पेटमें-से निकला है! तो जाकर जब किसीने महाराजसे पूछा कि माताजी तो ऐसा

प्रश्न करती हैं तो महाराजजी उठकर उनके पास गये और फिर रामघाटमें जबतक महाराजजी रहे वह तो बंगाली थीं और उड़िया और बंगलामें तो बहुत निकटता है तो वह कुछ-न-कुछ बनाकर महाराजजीको खिलाया करती थीं। तो उन्होंने महाराजजीकी साधनाके समयकी जो बातें बतायीं, सुनायीं, वह उन लोगोंको मालूम नहीं हैं जो लोग पीछे गये। लोग सिद्धि कालकी बातोंको देखते हैं।

देखो; एक साधु आये, महाराजजीके पास आकर उन्होंने देखा कि कैसे तो वह रोटी बाँटते हैं, दाल कोई देता जाता है और रोटी वह फेंकते जाते हैं और वे भोजनके समय कैसे लोगोंको प्रसाद देते हैं, यह देख लिया, और उसके बाद जाकर वह सिद्ध हो गये। तो क्या बस बाबा यही दो काम करते थे? लोगोंको रोटी बाँटना और प्रसाद देना।

तो साधनकालमें यह महात्मा लोग क्या करते हैं इसका तो लोग पता नहीं लगाते, इसके बारेमें तो जानकारी प्राप्त करते नहीं, और जो सिद्धि कालका उनका वैभव होता है, वह बिना उनके संकल्पके होता है, उनके बिना किये होता है लोग उसकी नकल करनेके लिए न जाने क्या-क्या करने लगते हैं।

अनेक ग्रन्थोंमें जो साधनाओंका और सिद्धियोंका वर्णन है उनके आधारपर मैं बड़े प्रामाणिक रूपसे यह बात कह सकता हूँ कि सिद्धोंकी रहनीका जो वर्णन है वह यह नहीं है कि वह जब सिद्ध हो जाते हैं तो हिमालयकी गुफामें प्रवेश कर जाते हैं, जब सिद्ध हो जाते हैं तब किसीको दर्शन नहीं देते हैं। जब सिद्ध हो जाते हैं तो सबको गाली गुफ्ता करने लगते हैं। सिद्धोंका तो वर्णन ऐसा आता है शास्त्रोंमें कि उसके सम्पर्कमें जाते ही, मनुष्यका मन संसारकी ओरसे अनाकृष्ट होकर परमात्मामें लीन होने लगता है और परमात्मा पर विश्वास करने लगता है।

यं यं कामान् मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकान् लभते तांश्च कामान्
तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेत् भूतिकामः॥

भगवती श्रुतिका कहना है कि संसारी लोगोंके मनमें होती है कामना, परन्तु महापुरुष अपने मनसे यदि उसको प्रकाशित कर दे और यदि वह चाहे कि इसकी कामना पूरी हो जाय तो वह तत्काल पूरी हो जाती है। वह जिस लोकका दर्शन कराना चाहे उस लोकका दर्शन करा सकता है और जिस कामनाकी पूर्ति करना चाहे वह पूर्ण कर सकता है। परन्तु उसके अन्दर किसी भी प्रकारकी मलिनता नहीं होती। 'विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्' वहाँ कामका भी वर्णन है और साथ ही साथ विशुद्ध सत्त्वका भी वर्णन है। अद्भुत है यह बात कि वह स्वयं विशुद्धान्तःकरण है और वह कामयते—कामनाकी कामना भी करता है।

तो विशुद्धान्तःकरणमें तो कामनाकी कोई जरूरत नहीं है; परन्तु जो उपासक हैं 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेत् भूतिकामः' जो अपना कल्याण चाहता है। इस लोकमें अभ्युदय चाहता हो, जो पतनीय कर्मसे बचना चाहता हो और उदयनीय कर्मका अनुष्ठान अपने जीवनमें चाहता हो, अपने जीवनको पूर्ण बनाना चाहता हो उसको चाहिए कि वह आत्मज्ञानी पुरुषकी पूजा करे—

तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेत् भूतिकामः

जिन लोगोंने यह पूजन प्रथा चलायी, आपको उनकी एक बात सुनाता हूँ। सेठ जयदयालजी! इस प्रसंगमें हम उनका स्मरण किये बिना रह नहीं सकते। सेठ जयदयालजीके साथ हमारा सात वर्ष तो संन्यासी होनेके पहले और आठ-दस वर्ष संन्यासी होनेके बाद, बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क रहा और वह बड़े जोरदार शब्दोंमें कहते थे कि साधुओंको किसीसे पूजा नहीं करवानी चाहिए। सम्मान नहीं ग्रहण करना चाहिए। मैंने एक दिन उनसे पूछा कि 'सेठजी! साधुओंको पूजा नहीं लेनी चाहिए, वह तो ठीक है परन्तु लोगोंका कर्तव्य क्या है? यह आप बताओ!' तो बोले कि लोगोंको तो साधुओंकी पूजा करनी चाहिए। बिलकुल उन्होंने साफ-साफ हमसे यह बात कही कि लोगोंको तो साधु-पूजन करना चाहिए। मैंने कहा यह बात क्या है? तो बोले कि

नहीं, जो अयोग्य हैं उनके लिए मैं कहता हूँ कि वे अपनी पूजा न करवावें जो योग्य हैं उनके लिए थोड़े कहता हूँ।

महाराजजीके भक्तोंने उनके अन्दर बहुतसे चमत्कार देखे, मैंने भी देखे, और सब सच्चे हैं। जिन लोगोंने देखे हैं वे भी उनके बड़े कृपापात्र हैं पर हमने उनकी चमत्कृति ही नहीं लौकिक निपुणता भी देखी है। एक बार जब करहेसे लौट रहे थे, जाते समय तो आगरा गये थे—सहता होकर, विश्रामपुर होकर, जहाँ सईंया पड़ता है, अरे हमको याद है—

'मोरे सईंया भए कोतवाल अब डर काहे का'

सईंयासे निकलके चले गये थे, लौटते समय आये आगरा। आगरामें एक ऐसा बौद्धिक चमत्कार, एक लौकिक बुद्धिका चमत्कार आपको सुनाता हूँ। लोगोंने हरि पर्वतके पास एक कोई आलू वालेका स्थान था किसी व्यापारीका, वहाँ ठहराया था। आलूकी दुर्गन्ध तो वहाँ खूब आती थी पर बाबाने कहा कि जहाँ आसन लग गया, लग गया, वहाँसे अब हम हटेंगे नहीं चाहे दुर्गन्ध कितनी भी आये। किसी सेठने, महाराज यहाँ होवें और सुनते हों तो माफ करें; पूरी तो उन्होंनें हमलोग जितने थे, पैंतीस-छत्तीस उनके खानेसे भी ज्यादा दी थी और साग भेज दिया कम, दो तरहके साग थे और वे किसी भी तरह पूरे पड़ने वाले नहीं थे। यदि लोगोंको यह मालूम पड़े कि साग कम है तो सेठ अपमानित हो। तो क्या हुआ थोड़ी देरमें जो लोग देखभाल कर रहे थे, खान-पानकी, उन्होंने आकर बताया कि महाराज दो तरहके साग थे पर, एक तो है ही नहीं गायब हो गया। एक सागकी चोरी हो गयी। यह बात हम लोगोंको बता दी गयी कि भाई, एक साग कोई चुरा ले गया।

जब सब लोग बैठे भोजन करने तो एक साग थोड़ा-थोड़ा परसा गया, यह हुआ कि अब इसीसे काम चलाओ अब रातके नौ-दस बजे और साग कहाँसे आवेगा पर जब आधा खा चुके तो पूरियोंके बीचमें वह दूसरा साग जो दबा हुआ था सो निकल आया, मिल गया, मिल गया, अब खूब आनन्दसे खाओ। आधेसे ज्यादा लोग तो खा चुके थे एक पंक्तिमें बैठकर

और थोड़े-थोड़े सागमें काम चला चुके थे तो जब दूसरा साग आया तो खूब मौजसे लोगोंने खाया। अब किसीके मनमें यह ख्याल ही नहीं हुआ कि साग कम आया था या क्या हुआ था? पर हुआ यह था कि हमारे महाराजश्रीने जब देखा कि साग कम है तो वह साग जिस बर्तनमें रखा हुआ था उसको पूरियोंके नीचे उन्होंने ही दबा दिया था। काम भी चल गया और सेठकी बदनामी भी नहीं हुई। और लोगोंने अच्छी तरह खा भी लिया।

तो जो सिद्धि-चमत्कार थे वह तो मैंने भी देखे, औरोंने भी देखे, सब सच्चे थे, परन्तु लौकिक निपुणतामें वह हम लोगोंसे बहुत आगे थे, एक अलौकिक निपुणता उनके अन्दर देखनेमें आती थी। यह समझो कि कोई सन् 35 से लेकर 48 तकका जो हमारा साथ है उसमें मैंने एक नहीं, अनेक बार देखा है। और वह मैं फिर सुनाऊँगा। अभी तो संन्यस्त महामण्डलेश्वर स्वामी महेशानन्दजी महाराज यहाँ पधारे हुए हैं और यह बड़े अनुभवी, विद्वान्, संत हैं, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ इनका प्रवचन, इनका उपदेश सुनना बड़े सौभाग्यकी और भगवत्कृपाकी बात है। आप लोग बड़े प्रेमसे इनका प्रवचन, उपदेश श्रवण कीजिये, धारण कीजिये, उसके अनुसार चलिये। और कोई-कोई उपदेश तो ऐसा होता है कि श्रवण करके धारण करनेकी जरूरत नहीं होती श्रवण मात्रसे ही अविद्याका विध्वंस कर देता है—

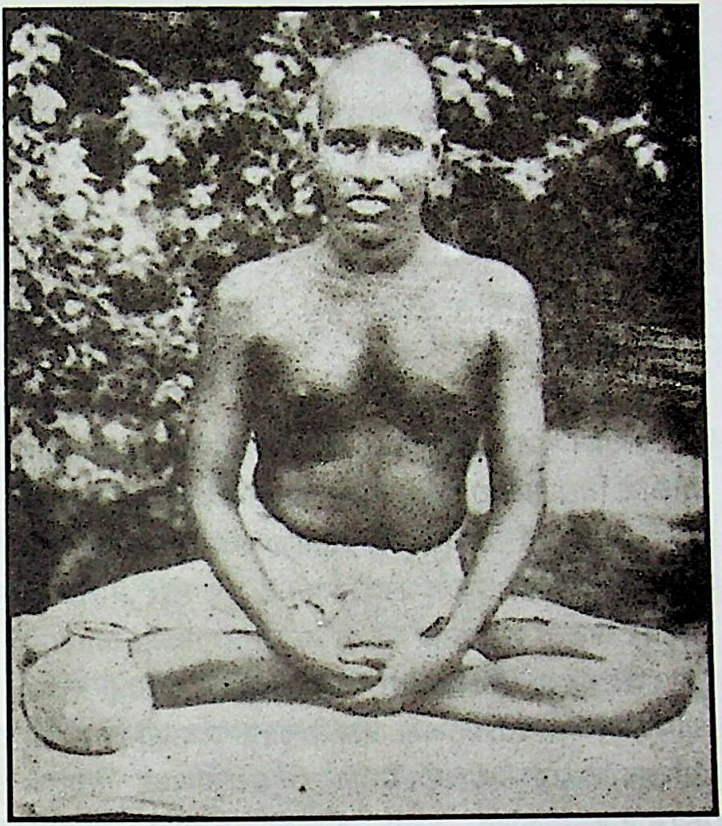
तत्त्व श्रवणमात्रेण शुद्ध बुद्धिः निराकुलः।

नित्यपरोक्ष वस्तुके सम्बन्धमें शास्त्रके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। और नित्यापरोक्ष वस्तुके सम्बन्धमें यदि अज्ञातता हो तो उस अज्ञातताको मिटानेके लिए शास्त्र-वाक्यके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। तो ये महापुरुष वे वचन बोलते हैं जिसके श्रवण मात्रसे ही अविद्या अन्धकारकी निवृत्ति हो जाती है। आपलोग श्रीवृन्दावन धाममें, पावनधाममें और वहाँ भी श्रीमहाराजके आश्रममें, श्रीमहाराजजीके सन्निधानमें जहाँ बरसों वेदान्तकी चर्चा अगर, यदि कोई बुरा न माने क्षमा करें तो कहना पड़ेगा कि श्रीवृन्दावन धाममें देशके जो छँटे-छटाये वेदान्ती

आते हैं उन लोगोंको यह सन् अड़तालीससे अब तक तृप्ति देनेवाला आश्रम, यहाँ हमारे महामण्डलेश्वरजी महाराज पधारे हुए हैं, हम उनका अर्घ्य-पाद्यसे अपने अधिकारके अनुसार जिसमें बाह्य सामग्रीकी आवश्यकता नहीं होती, हम उनकी षोडशोपचार मानसी पूजा करते हैं और उनका आदर करते हैं। आप लोग खूब प्रेमसे उनका प्रवचन, उनका उपदेश श्रवण कीजिये।

श्रीवनमालीदासजी महाराज जो अभी प्रवचन कर रहे थे, यह वृन्दावनके एक विशिष्ट विद्वान् हैं, मौन भावसे हमारे पड़ोसमें ही रहते हैं, बहुत पासमें रहते हैं यहाँ तक कि ये बोलें तो हम लोगोंको सुनायी पड़े। शास्त्रोंकी व्याख्या तथा छात्रोंको अध्यापन कराते हैं और ग्रन्थ तो इन्होंने इतने लिखे हैं 'घटिका शतक' नाम है इनका यहाँ, एक घड़ीमें सौ श्लोक बनाते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः !



सम्भोगे विप्रलम्भे निरुभयमभयं भाति भूपो रसानां,
विक्षेपे वा समाधौ विहरणनिपुणा ब्रह्मविद्यैव नूनम्।
इत्थं लोकैरशोकैरनुपदमधिकं भाव्यमानोऽवधूतः,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थः पथि पथि पथिकान् नन्दयन् बम्भ्रमीति॥

ब्रह्मानन्दाब्धिलीलाललितलहरिकाव्यञ्जितासंख्यबिन्दु -
ब्रह्माण्डव्रातरोमा विधुतविधिविधुत्र्यक्षविस्तारसीमा।
संविद्भूमांशुमालोज्ज्वलविमलरुचिध्वस्तमायाविलासः,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थो मम मनसि मनागात्मभावं बिभर्त्तु॥

(2)

संयोग शृंगार और वियोग शृंगार दोनोंसे अलग और दोनोंमें विद्यमान ये निर्भय रसराज ही हैं क्या? हो सकता है विक्षेप एवं समाधिमें समान विहार करनेवाली ब्रह्मात्मविद्या ही इनके रूपमें प्रकट हुई हो। आनन्दसे भरपूर जनता सब ओर इनके बारेमें उद्भावना कर रही है। ये कौन हैं? कोई अवधूत हैं। इनको लोग श्रीपूर्णानन्दतीर्थके नामसे जानते हैं। मार्गवासी लोगोंको आनन्द देनेके लिए ये पैदल ही पथ-पथपर विचरण करते हैं॥

ये हैं श्रीपूर्णानन्दतीर्थ। ब्रह्मानन्दसागरकी लीला-ललित असंख्य विन्दुओंसे छलकते हुए राशि-राशि ब्रह्माण्ड इनके रोम-रोममें स्थित हैं। विष्णु, ब्रह्मा और शङ्करके विस्तारकी सीमा टूट चुकी है। अनन्त संवित्के राशि-राशि चिदाभास रश्मिसमूहकी चमकसे माया-विलासका विध्वंस हो रहा है। यही श्रीमहाराजजी कृपा पूर्वक हमारे मनमें थोड़ा-सा आत्मभाव भर दें॥

(2)

तीर्थानां नास्ति संख्या विलसति पुरतः कापि तेषामभिख्या,
येषां स्नानप्रदानप्रवचनपटिमा कां कलां नातिशेते।
तच्चित्रं यस्य चित्रं कलितमपि मनाक् छ्रेयसां प्रेयसां च,
पारोक्ष्यं संपिधत्ते वितरति परमां पूर्णतामात्मरूपाम्॥ 5॥

तो देखो भाई! तीर्थ तो श्रीपूर्णानन्दतीर्थ आपने सुना न, तीर्थ तो बहुत होते हैं उनकी कोई गिनती नहीं कर सकता और वे देखनेमें बड़े सुन्दर होते हैं उनको देख-देखककर हम मुग्ध हो जाते हैं। किसी तीर्थमें स्नान किया जाता है किसी तीर्थमें दान किया जाता है। कोई तीर्थ प्रवचन करता है। दंडी स्वामी भी तो तीर्थ होते हैं। कोशोंमें इसके अर्थ नहीं हैं। वे तो 'सतीर्था वयं' हम एक गुरुके शिष्य हैं इसलिए सतीर्थ हैं। ऐसी-ऐसी विशेषता इन तीर्थोंमें होती है कि स्नानसे, दानसे, प्रवचनसे सब कुछ मिल सकता है। परन्तु एक तीर्थ, हम जिस तीर्थका वर्णन करने जा रहे हैं वे

तीर्थ बिलकुल आश्चर्य रूप है। श्रीपूर्णानन्दतीर्थ ऐसा तीर्थ है जिसके मुकाबिलेका दूसरा नहीं।

यदि एक बार हम उनके चित्र पटका दर्शन कर लें, **तच्चित्रं यस्य चित्रं कलितमपि मनाक् श्रेयसां प्रेयसां....**जो हमारे श्रेय और प्रेय, हमारे सांसारिक प्रिय पदार्थ और हमारा परमार्थ कहीं परोक्ष हो रहा है हमारी आँखोंसे ओझल हो रहा है, दूर हो रहा है उस दूरीको बिलकुल मिटा देता है। हमारा श्रेय और प्रेय साक्षात् अपरोक्ष हो जाता है।

वितरति परमां पूर्णतामात्मरूपाम्।

और उनके स्वरूपमें जो पूर्णता है श्रेय और प्रेय, हमारे महाराजजी केवल मोक्षाचार्य नहीं थे उनके दर्शनसे लोगोंकी मनःकामना पूर्ण होती थी। लोगोंने उनकी कृपासे धन कमाया, पुत्र प्राप्त किया, विजय प्राप्त की, लोक-परलोकके सब पदार्थ उनके संयोगसे प्राप्त हुए।

एक बार मैं इस फाटकके ऊपर जो छत है, उसपर रातको सो रहा था, एक थे स्वामी निर्मलदासजी उड़ीसाके वह भी थे, बादमें उनका नाम स्वामी प्रकाशानन्द हो गया, पर पहले थे वह निर्मलदास, हम दोनों सो रहे थे। मैं संन्यासी हुआ नहीं था। तो हम दोनोंकी राय हुई कि निर्मलदासजी हमारे घर चलें। और वहाँ रहेंगे और हम उनको पंचदशी पढ़ायेंगे, वेदान्तकी चर्चा होगी, सत्सङ्ग होता रहेगा। ये चर्चा हमने आपसमें रातके बारह बजे चुपचाप की और चार बजे तो उनके यहाँ रोज सत्सङ्ग होता था वेदान्तियोंका। जब वेदान्तियोंका सत्सङ्ग होने लगता था तब भक्तोंसे कह देते थे कि जाओ तुम भजन करो, तुम इस खटपटमें क्यों पड़ते हो? चार बजे इकट्ठे हुए आठ-दस लोग होंगे तो बोलते हैं 'सन्तनु, साधुको गृहस्थके घरमें रखना ठीक नहीं है।' तो मेरे मनमें आया कि ये समझ गये कि नहीं मुझे क्या मालूम पड़े। अच्छा इतना अगर ये जाहिर करते हैं कि ये समझ गये तो एक बात और जाहिर कर दें कि ये समझ गये। इस समय हमको कुछ खानेको दें तो हम समझें कि हाँ चमत्कार हुआ। सो महाराज बुलाते हैं ऋषि, ऋषि यहीं रहते हैं 'ऋषि, सन्तनुको भूख लगी है कुछ लाओ तो! अरे भगवान्

चार बजे रात और सन्तनुको भूख लग गयी लाओ तो पेड़ा'। अब महाराज बात हो गयी न पक्की!

कभी-कभी ऐसा विनोद करते थे महाराज, हम तो उनके साथ खानेवाले, पीने वाले, साथ बैठने वाले, सोने वाले, आज हम उनकी याद करते हैं परन्तु ईश्वरकी कृपा इतनी रही कि हमारे मनमें एक दिनके लिए भी कभी यह बात नहीं आयी कि वह चले गये। हमको ऐसा ही लगता है कि वह हमारे साथ हैं। एक चमत्कार अपना और बता देते हैं आपको। ये भले लोग महाराज बीसवीं शताब्दीमें जो थोड़ा ज्यादा पढ़-लिख लेते हैं, वह कहते हैं कि चमत्कार झूठा होता है। अब यह है कि तुम हजार बार कहो कि झूठा होता है और तुम्हारे लिए झूठ ही सही; लेकिन जब हमने देखा, अनुभव किया तो हमारे लिए तो सच्चा है न, तुम्हारे कहनेसे हम तुम्हारी बकवादका कोई ख्याल नहीं करते। हमको परमेश्वरने ऐसा दृश्य दिखाया है कि इस जीवनमें जबतक हमारी बुद्धि जीती रहेगी उसको ईश्वर पर अविश्वास नहीं हो सकता। हम जानते हैं हमने ऐसी झाँकी देखी है, हमने ऐसे दृश्य देखें हैं, हमने ऐसे अनुभव किये हैं, क्या करेगा आधुनिक विज्ञान और आधुनिक शिक्षा-दीक्षा, हमारा क्या बिगाड़ सकती है, अरे, भई तुम नहीं विश्वास करोगे तुम वंचित रहोगे।

हाँ महाराज तो देखो उसी सालकी बात है जिस साल महाराजका शरीर पूरा हुआ था चैत्र शुक्ल पूर्णिमाको हुआ भण्डारा और हम लोगोंने यह निश्चय किया कि गिरिराज चलें। उसीदिन, क्योंकि वह पहले बोला करते थे—

गोवरधन कूं जाऊं मेरी वीर न माने मेरो मनुवा।

यह कई दिनोंसे रट लगा रखी थी, पाँच, दस, बीस दिनसे जब देखो जब बोलें। तो यह हुआ कि अच्छा चलो गोवर्द्धन चलें। तो मैं, स्वामी स्वरूपानन्दजी जो अभी कृष्णबोधाश्रमजीके स्थान पर अभिषिक्त हुए हैं और रामजी ब्रह्मचारी जो बादमें हमारे स्वामीश्री ब्रह्मानन्दजी महाराजके उत्तराधिकारी हुए, शान्तानन्दजी शङ्कराचार्य, दोनों साथ

थे, दोनों असलमें पहले हमारे ही साथ रहते थे शान्तानन्दजीको तो मैंने महाराजजीके पास भेजा कुछ कारणवश उनकी सेवाके लिए आवश्यक था।

आप लोग समझते होंगे महात्मा वह होता है जिसकी पीठकी रीढ़ सीधी आँख बिलकुल हिलने न पावे बिलकुल अपलक, ऐसे बोझिल बोझ जो अपने सिरपर लिये-लिये फिरता है जो ऐसे बैठे और ऐसे देखे और ऐसे चले, ऐसा मुँह और ऐसी बोलन, वह बोझसे दबे हुएका नाम महात्मा नहीं होता है। पीठकी रीढ़ सीधी होनेका नाम महात्मा नहीं है और दम-घोंटू बनानेका नाम महात्मा नहीं है। महात्मा वह होता है जो सारे बोझको—

फिकर फाँक फकनी करे वाको नाम फकीर

उठाकर बोझ फेंक दिया।

अच्छा लो एक और सुना देते हैं आपको यहाँ सुखराम जी रहते हैं, महाराजजी की कुटियामें ही रहते हैं। यह कैसे चलते हैं? अब तो 'जरा बूड्ढे हुए हैं बेचारे। पहले चलते थे तो बड़ा मजेदार चलते थे। तो एक हाथ कमरपर रखकर और एक हाथ ऐसे लटका-कर और बिलकुल सुखरामकी तरह बाबा चलते थे। यह क्या है कि सुखराम ऐसे चलता है।

हम आपको वेदान्त थोड़े ही सुना रहे हैं महात्माकी भी एक लीला होती है।

अच्छा एक दिनकी सुनो। आगे-आगे महाराजजी चल रहे और पीछे-पीछे सुखराम। अब यह हुआ कि इस गाँवके लोग तो यह जानते हैं और पहचान लेंगे तो वे हमको रोक लेंगे, और आगे जो बढ़ना है सो नहीं बढ़ पावेंगे। तो क्या हुआ कि जो पोटली-वोटली थी सो सब बाँधकर सुखरामजी डंडेमें लटकाकर आगे-आगे चले और बाबा स्त्रीकी साड़ी पहनकर घूंघट लटकाकर, पार कर गये। उस गाँवको, बिलकुल ऐसे जैसे कोई पति आगे-आगे चले डंडेमें जूता उठाकर चल रहा हो और पत्नी पीछे-पीछे उसके पैदल चल रही हो। यह बात है कि सुखराम तो सींकिया

पहलवान और महाराजजी तो स्थूल काय देखो, उनकी वह छवि। आपने देखा होगा, छत्र-चँवर वाले महात्माओंको। अब उनकी उनके सामने क्या गिनती होवे!

हर समय, हर प्रसंगमें, जिस प्रसंगमें लोग बहुत रोते हैं बहुत दु:खी होते हैं, उसको वे चुटकी बजाते हुए पार करते थे। एक बार एक समस्या खड़ी हो गयी, वर्षा हो रही थी बड़े जोर से और यह जो जे.के. वालोंने मन्दिर बनवाया है शंकरजीका, यह बन रहा था तो उसकी भूमि क्षरण होने लगी। तो हमारे यहाँके भक्त फावड़ा ले-लेकर पहुँच गये और दावानल कुण्डके भीटेकी माटी काटकर क्षरणको रोकने लगे। इतनेमें दूसरे कुछ और लोग थे जो लाठी लेकर आ गये कि हम यहाँसे माटी नहीं उठाने देंगे यह तो कुण्ड है। इधरके लोग भी अड़ गये। बाबाके भक्त भी तो देहाती लोग थे। कोई बम्बईसे थोड़े ही आये थे कि लाठी देखकर भाग जाँय। हमारे भक्त तो बम्बईके आते हैं अगर लाठी देख लें तो नयी धोतीका इन्तजाम करने लगें। इधर भी लाठी उधर भी लाठी, इतनेमें किसीने दौड़कर कहा महाराज यह तो अनर्थ होने जा रहा। दस-बीस उधरसे, दस-बीस इधर से, यह क्या होगा? सो महाराज वर्षा हो रही थी और स्वयं भींगते हुए वहाँ पहुँच गये। यह नहीं कि जो होना हो होले, तुम लोग सुलह कर लो, ऐसा कुछ नहीं वहाँ पहुँच गये, और अपने भक्तोंसे कहा कि देखो! चुप रहो! सब हट जाओ, कोई अपने मनसे न एक फावड़ा चलावे, न माटी उठावे। ये लोग जहाँसे बतावें कि माटी यहाँसे लेकर तुम इस नुकसानको रोको, वहाँसे तुम माटी उठाओ अब वह जो रोकनेवाले थे वह स्वयं खड़े हो-होकर बताने लगे कि यहाँसे माटी ले जाओ, यहाँसे माटी ले जाओ, ऐसी वह समस्या हल हुई कि देखकरके आश्चर्य हो जाता है। आप लोगोंको कुछ सीखनेका मालूम पड़ता हो तो इसमेंसे सीखना।

माने झूठा हो या सही। लेकिन वह होता हृदयमें ही है। चाहे भूतका दर्शन हो, चाहे भगवान् नारायणका दर्शन हो, चाहे वेश्याका दर्शन हो, वह भले खुली आँखसे बाहर दिखे; परन्तु उसकी अनुभूति हृदयमें होती

है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे इतनी चीजें देखी जाती हैं, अनुमान प्रमाणसे इतनी चीजें जानी जाती हैं, उपमानसे हम जो कुछ समझते हैं, अर्थापत्ति, उपलब्धि ये सब पारभाषिक शब्द हैं, प्रमाणोंके बारेमें 'संभव, ऐतिह्य' ये ऐसा होना सम्भव है, रावणके सिर कटते जाते थे और जुड़ते जाते थे। यह भी सम्भव है कि एक राजा थे और करोड़ों वर्ष तक राज्य करते रहे हों; परन्तु ऐसा राजा जो इतिहासमें ज्ञात है और सम्भावना जो हम अपने हृदयमें रखते हैं। और वहाँ पहले घड़ा था अब नहीं है और यह आदमी है यह आज प्याज खाकर आया है, बास निकलती है, ऐसी बास बिना प्याज खाये नहीं निकल सकती; तो यह सब प्रमाण तो अलग-अलग होते हैं। परन्तु सबकी अनुभूति हृदयमें ही होती है। उसी अनुभूतिका नाम प्रमाण होता है। उन्हीं भिन्न-भिन्न प्रमाणोंके द्वारा जो यथार्थ अनुभव प्राप्त करते हैं या अयथार्थ भ्रम होता है, भ्रम और प्रमाण दोनोंका अधिकरण बिलकुल एक है। यही एक ऐसी जगह है जहाँ प्रमा भी भ्रम हो जाती है और भ्रम भी प्रमा हो जाता है।

आप चाहे रामका दर्शन करो चाहे कृष्णका दर्शन करो, हमारा दर्शन करो, परन्तु दर्शन हृदयका धर्म है, अन्तःकरणका धर्म है दर्शन। दर्शन माने ध्यान, यह न किसी इन्द्रियका धर्म है न किसी वस्तुका धर्म है। इसका अभिप्राय यह निकलता है कि हमारे हृदयमें जो चीज आकर मालूम पड़ती है, प्रमाणके द्वारा हमारे हृदयमें पहुँचती है जैसे कानके द्वारा, आँखके द्वारा, नाकके द्वारा या धूम-अग्निके सम्बन्धके द्वारा, या बौद्ध रहके उपमानके द्वारा या अर्थापत्तिके द्वारा। तो ये सारी बात चाहे किसी भी प्रमाणसे आवें जब हमारे हृदयमें आ जाती हैं तब मालूम पड़ती हैं। यह नियम है। माने हम अपने हृदयमें स्थित पदार्थको ही जानते हैं बाह्य पदार्थोंको तो जानते ही नहीं। यह बौद्धोंको भी स्वीकार है और वेदान्तियोंको भी।

अब देखो वेदान्तियोंकी भी सुनावें! जब अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य एक होता है तभी उसका ज्ञान होता है, अभी यह पारिभाषिक एक लक्षण कहा। माने जिस हृदयमें वस्तुके

आकारकी कल्पना हुई यह गाय है तो अन्तःकरणमें स्फुरित गाय है। उसीका हमको ज्ञान होता है। तो जो अन्तःकरण वाला चेतन है, गाय वाला भी वही चेतन है। हम देख रहे हैं गाय घास चर रही है, गाय रम्भा रही है। उस गायमें कोई दूसरा चेतन है और हममें कोई दूसरा चेतन है, ऐसा तो है ही नहीं। तो वेदान्तियोंने इसको अपनी परिभाषामें यह कहा कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य, गो-अवच्छिन्न चैतन्य और गोत्वाच्छिन्न चैतन्य। एक गाय, हजार गाय ऐसे समझो अद्वैतवेदान्तका जो मूल है वहाँसे प्रारम्भ करते हैं, तो पहली बात यह हुई कि अन्तःकरणमें आये बिना, प्रमाण द्वारा अन्तःकरणमें अपना आकार बनाये बिना कोई वस्तु ज्ञात नहीं होती। और जिस अन्तःकरणका अन्तःकरण है, माने अन्तःकरणमें जो काम कर रहा है वही अन्तःकरणमें दीखनेवाली स्त्रीमें, पुरुषमें, देवतामें, दानीमें, ईश्वरमें, परमेश्वरमें सबमें वही है। हजार गाय अगर हमारे अन्तःकरणमें चर रही हों तो हजारों गायोंमें जो चेतनता मालूम पड़ रही है कि कोई पूँछ हिला रही है कोई कान हिला रही है, कोई चर रही है उन सबमें अलग-अलग जीवत्व नहीं है, जो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है वही अन्तः-करण वृत्ति द्वारा तदाकार हो रहा है।

अब इस बातको यदि हम ठीक-ठीक समझ लें तो जितना प्रपंच हमको मालूम पड़ता है जिसको हम समष्टि कहते हैं। समष्टि प्रमाणसिद्ध नहीं है। कल्पनासिद्ध है। चूँकि हम बहुत-सी इकाइयाँ देखते हैं तो इनके संयोगकी कल्पना करते हैं, जिसको हम सब बोलते हैं समष्टि है, जाति है, हजारों-लाखों पदार्थ हैं अनन्त परमाणु हैं और बड़ी भारी देश-काल-वस्तुके आकारमें परिणत होनेवाली प्रकृति, ये सब ज्ञान हमको या तो प्रत्यक्ष से या अनुमानसे प्रतीत होते हैं, घट-पटादिका प्रत्यक्षसे और पृथिवी आदिका अनुमानसे अनुभव करते हैं तो प्रकृति कभी दृश्य नहीं होती, इस बातको सांख्य और योग—जो प्रकृतिवादी हैं वह मानते हैं कि प्रकृति दृश्य नहीं, तो प्रकृति प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य नहीं है, अनुमानप्रमाणगम्य है। परन्तु अनुमानसे प्रकृतिकी जो प्रमा होगी वह

कहाँ होगी? कि वह भी हृदयमें ही होगी, और यदि इससे आगे जगत्‌का कोई निमित्त कारण है तो वह भी तो अनुमानसे ही सिद्ध होगा न! नैयायिक लोग निमित्त कारणका अनुमान करते हैं और सांख्य लोग प्रकृतिका, उपादान कारणका अनुमान करते हैं तो इन दोंनोंने उपादानसे जिस पदार्थको प्रमाणित किया उसकी प्रमा हमारे अन्तःकरणमें हुई। तो दोनों हमारे अन्तःकरणमें आकर भासते हैं, अब जो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है वही अन्तःकरणमें भासमान प्रकृत्यावच्छिन्न चैतन्य भी है और ईश्वरावच्छिन्न चैतन्य भी है। इस शब्दका प्रयोग लोग नहीं करते हैं; लेकिन मैं जानबूझके करता हूँ क्यों करता हूँ कि जब ईश्वरमें कर्तृत्व है, निमित्त कारणत्व है तो जितने अन्तःमें निमित्त कारणत्त्व उतने अन्तःमें ईश्वर भी दृश्य है। और जब दृश्य है तो दृश्य ईश्वरावच्छिन्न जो चैतन्य है वह जो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है वही दृश्य ईश्वरावच्छिन्न चैतन्य भी है।

तो अब कुल यह हुआ कि हमें यथार्थ परमेश्वरकी अनुभूतिके लिए एक प्रक्रिया स्वीकार करनी चाहिए। इसीका नाम होता है सम्प्रदाय। सम्प्रदाय माने साधनाके एक विशेष क्रमको स्वीकार करना। लक्ष्यमें भेद सम्प्रदायका काम नहीं है। किसी भी सम्प्रदायमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वस्तुके स्वरूपमें भेद बना दे, सम्प्रदायका काम यह है कि हमारे जीवनमें एक क्रमिक साधना की प्रतिष्ठा कर दे। वह क्रमिक साधनाकी प्रतिष्ठा यदि अन्तर्यामी ईश्वरको ही पहले दे दे। तो वह कहाँ होनी चाहिए? सम्पूर्ण विश्व प्रपंचसे निकटतम हमारा अहं है।

अहं जानामि, अहं करोमि, अहं गच्छामि। इससे अन्तरंग वस्तु संसारके व्यवहारमें दूसरी मिल नहीं सकती। तो समग्र व्यवहारका साधारण करण, असाधारण करण नहीं, असाधारण करण तो कर्मका हाथ है, गतिका पाँव है, असाधारण करण है माने बिना हाथके कर नहीं सकते, बिना पाँवके चल नहीं सकते यह तो तत्तत् कर्ममें असाधारण करण हैं, परन्तु सम्पूर्ण विश्वमें ईश्वर, परमेश्वर, देवता, प्रकृति, परमाणु सबके ज्ञानका साधारण करण जो है वह अहमर्थ ही होगा, अहमर्थके सिवाय दूसरा हो

ही नहीं सकता। और इसको मना करके कि अहं नहीं है कोई भी साधना नहीं हो सकती। तो अहं अपने सामनेके दृश्यमें भावका परिवर्तन करता है। सामनेकी वस्तु और क्रियामें भाव परिवर्तन करनेसे होता है—धर्म, हाथसे तो वही काम करेंगे; परन्तु वह काम देवताके लिए है, यह शास्त्रोक्त है इसलिए धर्म है। अक्षत तो वही है जिसका घरमें भात बनता है और हाथ वही है जिससे खाते हैं; परन्तु वही अक्षत जब अपने मुँहमें न डालके देवताके उद्देश्यसे उसका परित्याग करते हैं तो; हाथ भी वही; क्रिया भी वही, पर वहाँ धर्मका निर्माण होता है।

तो; धर्म सम्प्रदाय यहाँसे चलेगा कि क्रिया और वस्तुको एक विशेष उद्देश्यसे और नियमसे और सम्प्रदाय क्रमसे अग्न्यादिमें हवन करें या देवताको चढ़ावें तो उसका नाम हो जायगा धर्म। और जब सामने स्थित अपने ही दृश्य भावमें परिवर्तनका आश्रय लेकरके वासनाओंका परिवर्तन करते हैं तब उसका नाम हो जाता है उपासना। और जब हम अपने स्वभावको अर्न्तमुख करनेके लिए आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणाके द्वारा ऐसा बढ़िया निर्मित करते हैं कि सहज स्वभावसे ही अपनी ओर, अहंकी ओर खिंचने लग जाता है यहाँ तक कि अपने कर्तृत्वका भी भान नहीं होता तो वह हो जाता है योग। योग कर्तृत्वसे प्रारम्भ होता है; परन्तु कर्तृत्वके भानको मिटा देता है। जैसे कोई आटोमैटिक मशीन पहले चलायी और चलानेके बाद वह चलती रही, तो प्रतिलोम परिणाम उत्पन्न करके हम मनको छोड़ देते हैं और वह जाकर एक जगह अहंमें बैठ जाता है। विवेक ख्याति है तो उसको असम्प्रज्ञात बोलते हैं। विवेक ख्याति नहीं है तो सम्प्रज्ञात बोलते हैं; लेकिन उस साधनको अहंके पास आना आवश्यक है।

तो बाहरके पदार्थोंमें जहाँ महत्व बुद्धि है उसमें परिवर्तन करनेके लिए धर्मकी आवश्यकता होगी और भावमें जहाँ सम्बन्धकी भावना बहुत ज्यादा है वहाँ हृदयमें सम्बन्धकी भावना उत्पन्न करनी पड़ेगी और जहाँ वासना नहीं है केवल विक्षेप ही है वहाँ एक प्रयत्नसे ठोकर मारी और वृत्ति अर्न्तमुख होकर शान्त हो गयी। तो इन सबसे फिर अलग-अलग सम्प्रदाय

बनते हैं। यह धर्म सम्प्रदाय है, यह उपासना सम्प्रदाय है, यह योग सम्प्रदाय है।

श्रीरामानुजाचार्यकी जो वास्तविक भक्ति है वह कुछ इससे विलक्षण है। वह क्या है ? कि वह कहते हैं कि अहं तो छोटा-सा है वहाँ आत्मा वाली बात नहीं है माने जिस अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्यके विषयावच्छिन्न चैतन्यसे अभेद होने पर वस्तु प्रमा होती है वह अन्त:-करणावच्छिन्न चैतन्य उनके जीव नहीं है।

अच्छा इसका फल यह होता है कि वह जो परिच्छिन्न कर्ता भोक्ता संसारी जीव है, अहं है वह है नियम्य, और उसका नियन्ता है परमेश्वर। कोटि-कोटि जीव नियम्य हैं और उनका नियन्ता एक परमेश्वर है। उसकी रुचि हो या वह परमेश्वर अनुकूल हो, उसमें भी आनुकूल्य-प्रतिकूल्याभ्यां व्यवस्था, ऐसा बोलते हैं। माने हमारा अन्त:करण यदि ईश्वरके लिए उस अर्न्तयामीका नियमन ग्रहण करनेके लिए उन्मुख है उसकी ओर तो वह उसका ऐसे ढंगसे नियमन करता है कि किसीको योग हो जाय, किसीको वस्तुका साक्षात्कार हो जाय, किसीके जीवनमें धर्मका संचार हो जाय, वह परमेश्वर अनुग्रह करे तो व्यक्ति सदाचारी हो जाय, भक्त हो जाय यह बात मूलत: जो आचार्य हैं वैदिक जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर व्याख्या की है ऐसा मान लो वल्लभ, रामानुज, मध्व ये सब कहते हैं कि यह जो अहं है, छोटा अहं यह नियम्य है और इसका नियन्ता परमेश्वर है और वह कोटि-कोटि जीवोंका नियन्ता है।

इन सबकी एक-एक प्रक्रिया है। जो लोग नियन्ता मानेंगे वहाँ शरणागति मुख्य हो जायगी। उनके सम्प्रदायकी साधनाका एक क्रम है। अच्छा जो लोग भाव वस्तुको मुख्यता देंगे उनके यहाँ रसिकता आ जायेगी, रस आ जायेगा। अब मूल प्रश्न यह है कि जो ज्ञान है जिस ज्ञानमें यह नियम्य है और यह नियन्ता है यह भासता है उस ज्ञानका स्वरूप क्या है ?

यह अद्वैतियोंकी प्रक्रिया है। उस ज्ञानका स्वरूप क्या है और उस ज्ञानको जितना शुद्ध अन्य संस्पर्श रहित, तो ज्ञानका अन्य संस्पर्श रहित

होना क्या है कि उसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद न रहे, तब तो ज्ञान शुद्ध रहेगा और ज्ञाता हो गया तब तो अहंका मिश्रण हो गया, और ज्ञेय हो गया तो प्रपंचका मिश्रण हो गया, ज्ञानमें ज्ञेयका मिश्रण होते ही प्रपंच हो गया और ज्ञाताका ज्ञानमें मिश्रण होते ही परिच्छिन्न अहंका सम्बन्ध जुड़ गया। तो अब यह जो शुद्ध ज्ञान है इसको जब हम ज्ञाता और ज्ञेय दोनोंसे विर्निमुक्त करके पहचानते हैं तब फिर किसीके मनमें यह शंका रह जायगी, परमात्मा और है क्या? जिन्दगी भर हम जिसको शास्त्रमें, वेदमें, पुराणमें परमात्माके रूपमें श्रवण करते आये हैं और सांख्योंने जिसको केवल ध्यानका आलम्बन माना है, और नैयायिकोंने जिसको केवल अनुमान गम्य माना है और मीमांसकोंने तो सच पूछो तो अलग-अलग कर दिया। यह जो आँख है उस आँखका देवता अलग, कानका देवता अलग, तो ये ऐन्द्रियक ज्ञानके देवता अलग होनेके कारण उन्होंने ज्ञानोंको भी अलग-अलग माना, इसलिए प्रत्येक देवताकी आराधना ही अलग-अलग कर दी। माने उनकी गति इन्द्रियान्तर्यामी देवता तक है, परन्तु उसको वह कहते हैं कि वह देवता नहीं हैं वह तो केवल हविष्यत्याग कर्मक जो शब्द है इन्द्रं जुहोमि स्वाहा। वह केवल शब्द ही है इन्द्र, और जिस समय उच्चारण किया जाता है उतना ही उसका जीवन काल है उससे अधिक नहीं है।

एक हँसीकी बात सुनाता हूँ, धर्मसङ्घ बना था श्रीकरपात्रीजी महाराजने बनाया, तो पहले तो बड़े जोर-शोरसे चला; बादमें थोड़ा ढीला पड़ा। ढीला पड़ा तो हमारे पास पण्डित मायादत्त शास्त्री आये, वे उसके सेक्रेटरी थे तो मैंने उनसे पूछा कि पण्डितजी धर्मसंघकी प्रगति कैसी हो रही है? तो बोले प्रगति कैसी—'स्वामीजी! धर्मसंघ माने श्रीकरपात्रीजी महाराजका भाषण कार्य।' तो अब हमारे जो मीमांसकोंका देवता क्या? बोले जिस समय इन्द्रं जुहोमि स्वाहा हम बोलते हैं उस समय इन्द्रं यह कर्म विभक्तिसे युक्त इन्द्र शब्दका जो प्रयोग है वही इन्द्रका जीवन है। यह पूर्व मीमांसकोंमें जितने सबर स्वामी, कुमारिल भट्ट आदि हुए उनका मत ऐसा है। वस्तुरूपसे जो

देवाराधन है वह भी वस्तुतः है हृदयमें, भ्रमसे बाहर मालूम पड़ता है। क्रिया रूपसे धर्मानुष्ठान, वह भी है हृदयमें पर बाहर मालूम पड़ता है। भाव रूपसे देवाराधन, ईश्वराराधन उसमें कुछ भी उसको कह लें; परन्तु वह है हृदयमें बिल्कुल। और हृदय है अहंसे सन्निहित, उसमें जितनी भी साधना होगी अहंकी स्थापना करके होगी। अगर अहंकी स्थापना नहीं करोगे तो साधना-वाधना कुछ नहीं, और ये वेदान्ती जो हैं वे कहते हैं कि अहं है नियम्य। यदि हम कर्ता, भोक्ता, संसारी और परिच्छिन्न अहंको स्वीकार करते हैं। कर्ता माने पापी-पुण्यात्मा, भोक्ता माने सुखी-दुःखी, संसारी माने नरक-स्वर्ग आदि पुर्नजन्ममें जाने-आने वाला और परिच्छिन्न माने कतरा तो यह जो कतरा है यह तो वस्तुका है और जाने-आनेवाला है वह देशमें पड़नेवाला है। वे देशके अधीन है और यह जो कर्ता है वह इन्द्रियवान है। और जो भोक्ता है वह वासनावान है। इन्द्रियवान ज्ञानका नाम कर्ता है। और वासनावान ज्ञानका नाम भोक्ता है। है ज्ञान ही। और गमनागमन कल्पनायुक्त ज्ञानका नाम है संसारी और अपनेको चित्तके रूपमें स्वीकृति देनेवाले ज्ञानका नाम है परिच्छिन्न। परन्तु ज्ञानमें न इन्द्रियवत्ता होनेके कारण कर्म है और न देशमें गमनागमन है न कालमें जन्म-मरण है और न वासनावत्ता होनेके कारण भोग है। मूल ज्ञानका जो स्वरूप है वह ऐसा है।

अब एक जिज्ञासुके दिलमें यह घबराहट पैदा होती है कि वह कहाँ गया कि जिस परिपूर्ण अद्वितीयको ढूंढनेके लिए हम निकले थे, जो ज्ञान ही इन्द्रियकी उपाधिसे कर्ता है, मनकी उपाधिसे भोक्ता है और लिङ्ग शरीरकी उपाधिसे गमनागमनशील है। और चित्रकलाकी दृष्टिसे, कला भी दृश्य ही होती है तो यह सब तो ठीक है और मैं ज्ञान जिसमें देश-काल-वस्तुका संस्पर्श नहीं ऐसा ज्ञान मैं, तो वह कहाँ गया जिसको ढूंढनेके लिए मैं निकला था? तो श्रुति विधिके रूपमें (यह यज्ञ करो, यह यज्ञ करो) आत्माको ब्रह्म नहीं बताती है सिद्ध पदार्थका अनुवाद मात्र करती है। आत्माकी जो ब्रह्मता है वह स्वतः सिद्ध है। और श्रुति उसका अनुवाद करती है। जहाँ अज्ञान था वहाँ तो अज्ञान

ज्ञापन करती है इसलिए अज्ञानकी निवृत्ति पर्यन्त श्रुति प्रमा है। और अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेके बाद श्रुति प्रमाण नहीं है श्रुति तो अनुवाद है, हमारे स्वरूपका अनुवाद करती है। इसलिए अज्ञानताकी निवृत्ति पर्यन्त ही महात्मा लोग श्रुतिकी प्रमाणरूपता स्वीकार करते हैं, बादमें जिज्ञासुओंके कल्याणके लिए है। अज्ञानियोंका अज्ञान दूर करनेके लिए है। अपने लिए तो वह स्वयं—यत्र माता अमाता भवति, पिता अपिता भवति, देवा अदेवा भवति, वेदा अवेदा भवन्ति, ऐसे बोलते हैं न, इस तरहसे यह प्रमाणकी जो परम्परा है यह हमारे अन्तःकरणमें प्रमा उत्पन्न करनेके लिए है।

और; जब घटपटादिके रूपमें भी हम यह निर्णय कर लेते हैं कि हमको बाह्य घटका साक्षात्कार, बाह्य रहते हुए नहीं होता, बौद्ध लोग तो कहते हैं कि बाह्य है ही नहीं, केवल भीतर-ही-भीतर है। तो भीतर क्या हुआ एक बेवकूफी की ही बात हुई न, बाहर नहीं भीतर है माने इस देह रूप घड़ेके भीतर घड़ा है, तो यह देह भी तो एक घट ही है न, यह भी अन्तर नहीं बाह्य ही है। देह प्रमा जो है वह भी अन्तः-करणावच्छिन्न देहावच्छिन्न चैतन्यसे अभिन्न होकर ही देहका ज्ञान प्राप्त करता है।

अब कुछ बौद्ध कहते हैं चूँकि भीतर घट मालूम पड़ता है उससे अनुमान होता है कि बाहर घट है, उनके लिए घट प्रत्यक्ष नहीं है अनुमानित है। अब यह सर्वथा ही लौकिक व्यवहारके विपरीत हो गया। तो घट न बाहर है न भीतर है घट अनिर्वचनीय है तबतक जबतक ज्ञान नहीं हुआ और ज्ञान हुआ तो ज्ञानसे भिन्न घटकी कोई सत्ता ही नहीं है, बिलकुल निश्चित रूपसे बोल सकते हैं। इसलिए कि वेदान्तमें एक क्रम, चाहे आप कार्यकारणके विवेकका क्रम स्वीकार करें चाहे पंचकोशका क्रम स्वीकार करें चाहे अध्यारोप-अपवादका क्रम स्वीकार करें। सबसे बढ़िया तो वेदान्तकी प्रणाली है उसमें अध्यारोप-अपवादकी जो प्रक्रिया है इसको सर्वोत्तम मानते हैं। एक अध्यारोप किया फिर उससे अन्तर हो गये तो अन्तरंग अनुभवसे बाह्य आरोपका अपवाद हो गया, फिर अन्तर

हो गये फिर बाह्यारोपका अपवाद हो गया, इस तरह अपवाद करते-करते अब आखिर यदि कोई वस्तु रह जाती है तो उसको परिच्छिन्न मैं का लक्ष्यार्थ कहना पड़ेगा; क्योंकि कर्तृत्वका भी अपवाद है भोक्तृत्वका भी अपवाद है, संसारिकत्वका भी अपवाद है, परिच्छिन्नत्वका भी अपवाद है। नियम्य नियामकका, शेष शेषीका, शरीर शारीरिकका सबका, यह मूलभूत जो आचार्योंने क्रम स्वीकार किया है यदि उसी क्रमसे अद्वैतज्ञान प्राप्त करना चाहें तो बड़ी सुगमतासे हो जायेगा। और नहीं तो कभी जंगलमें चार कदम इधर तो चार कदम उधर! सम्भव है कहीं श्रवण मननका संस्कार हो, ज्ञान प्रतिबद्ध हो वामदेवके समान किसीको हो जाये तो उसका तो हम कुछ नहीं कह सकते। लेकिन अबाधित सत्यका साक्षात्कार होनेके लिए यह अद्वैतियोंकी प्रक्रिया है— जिसको हम नहीं जानते उसको अनादि नहीं बोलते, कालके प्रारम्भमें कुछ था वह सत्य है, तो कुछ था माने क्या था, अज्ञात था, सृष्टिके अन्तमें कुछ रहेगा वह सत्य है, तो क्या रहेगा बोले वह तो हम नहीं जानते, तब अज्ञान ही रहा न! अच्छा!! ओर-छोरमें सृष्टिमें कुछ है वह सत्य है वह नहीं होगा।

तो अबाधित वस्तु जो होती है वह विषयकी आदिमें इन्द्रिय, और इन्द्रियकी आदिमें वृत्ति, वृत्तिकी आदिमें शान्ति और शान्तिकी आदिमें साक्षी और उस साक्षीका विवेक करने पर स्पष्ट ऐसा मालूम पड़ता है कि इससे बड़ा तो कोई नहीं हो सकता, क्योंकि बड़ापन तो देशकालमें होगा, वह तो साक्षीको छूता ही नहीं है तो न लम्बाई-चौड़ाई साक्षीको छूती है और न उम्र साक्षीको छूती है और न वजन साक्षीको छूता है तो आखिरमें यह साक्षी है क्या? तो उस समय श्रुति जो है वह निर्द्वन्द्व भावसे बोलती है तत्त्वमसि, जिस परिपूर्णता, अद्वितीयता आदिका श्रवण, मनन, निदिध्यासन तुम करते आये हो वह यही तो है न जो तुम हो। यदि अपने प्रति किसीके मनमें असम्भावना, विपरीत भावना हो तो उसको यह जो श्रुति है तत्काल काट देती है। भ्रम निवृत्तिमें ही श्रुतिकी चरितार्थता है आत्मानुभूतिमें नहीं, भ्रमकी निवृत्तिसे उपलक्षित माने भ्रमकी निवृत्ति हो जाने पर जो शेष है,

कौन है, स्वयं है उसीको श्रुति ब्रह्म कहती है यह वेदान्तियोंकी साधनाका क्रम है। और यदि इसको कोई स्वीकार नहीं करता है तो चाहे वह भगवान् महावीर होवें, और चाहे भगवान् बुद्ध हों और चाहे अपने गुरुके नामके साथ कोई परमगुरु, परात्पर गुरु, परमेष्ठि गुरु कोई अपना नाम रख ले कोई गुरु कोई भगवान् कोई तीर्थंकर और सम्बुद्ध और कोई मसीहा और कोई पैगम्बर यदि इस वस्तुके साक्षात्कार पर्यन्त अपनी साधनाको नहीं ले जाता तो यह कहना पड़ेगा कि वह वेदान्त सम्प्रदायसे बहिर्भूत है। उसका सम्प्रदाय अपना होगा और उसको हम हाथ जोड़ते हैं वह बहुत बढ़िया है पर जो अद्वैत वेदान्तका सम्प्रदाय है उसमें उसकी परिगणना नहीं है। हम इतना ही कहते हैं केवल, उसका अपना कोई सम्प्रदाय यदि धुरधाममें जानेका है तो वह जाये धुरधाममें, यदि उसको कुल्ले मालिकसे मिलना है तो मिले कुल्ले मालिकसे, हम उसके सम्प्रदायको, हम खुदाके बहिश्तको बुरा नहीं मानते हैं और न ही ईसाके स्वर्ग राज्यको बुरा मानते हैं; पर हम लोग जो वेदान्त सम्प्रदायके अनुयायी हैं उनको जो वेदान्त सम्प्रदायका साधन और उसमें जो सिद्ध वस्तुका बोध है उसकी तरफ ध्यान देना चाहिए।

ये जो मौसमी भगवान् पैदा होते हैं और मौसमी महर्षि, उनसे बचना ही इसमें कल्याणकारी है, नहीं तो यह जो सतसम्प्रदाय है, अब यह सारे कहते हैं कि सम्प्रदायका लक्ष्य जो है प्राप्त हो जाय तब भी सम्प्रदायमें ही रहो, परन्तु अद्वैत सम्प्रदाय कहता है कि हमारे सत्यका साक्षात्कार हो जानेके बाद सम्प्रदायकी, गुरुकी, शास्त्रकी और पहलेवाले साधनकी, जिन साधनोंको करके तुमने यह लक्ष्य प्राप्त किया उनको यथावत् मत रखो। ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं है जो लक्ष्य प्राप्त हो जानेके बाद गुरु, सम्प्रदाय, साधना पद्धति, आराधना और रहनीको भी नियन्त्रित नहीं करता है तो इससे उत्तम सम्प्रदाय कोई बता दो जो इसी जीवनमें सिद्ध वस्तुका साक्षात्कार करा दे और प्रमा भी साधना भी गयी, सम्प्रदायसे भी सम्बन्ध नहीं, वह जो परम स्वातन्त्र्य है वह वेदान्त सम्प्रदायके सिवाय और कोई देता नहीं है।

असलमें 'आत्मा ब्रह्म है' यह जो 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यके द्वारा जो बोधनकी प्रक्रिया है वह उनमें नहीं है। द्रष्टा ही है सब कुछ, इसलिए दृश्य और द्रष्टाके भेदको ही स्वीकार करते हैं और मूलमें समझो तो वह बहुत अंशमें जैन प्रक्रिया है। तीर्थंकर जैसे अपने आपको सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् संकल्प, सम्यक् समाधि अपनेको शुद्ध-बुद्ध-मुक्त इकाईके रूपमें कर लेते हैं उसीका उसमें वर्णन है। आत्माके अद्वितीयत्वका वर्णन कि उसके अतिरिक्त न दृश्य है, न द्रष्टा है, न दूसरा कोई अन्तर्यामी है। यह अद्वितीयत्व जो है आत्माका यह उनकी प्रक्रियामें कहीं नहीं मिलेगा। यदि मिले तो उनके मुँहमें घी शक्कर, वह हमारे सम्प्रदायके अनुयायी हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः !



तीर्थानां नास्ति संख्या विलसति पुरतः कापि तेषामभिख्या,
येषां स्नानप्रदानप्रवचनपटिमा कां कलां नातिशेते।
तच्चित्रं यस्य चित्रं कलितमपि मनाक् छ्रेयसां प्रेयसां च,
पारोक्ष्यं संपिधत्ते वितरति परमां पूर्णतामात्मरूपाम्॥

सा दृष्टिः सूक्ष्मलक्ष्या स्थिरचरविषया वासनास्पर्शशून्या,
सा दृष्टिर्दृश्यमुक्तं करणमिव परं सम्प्रसादैकरूपा।
सा दृष्टिर्यत्र नान्यत् सकलमविकलं ब्रह्म प्रत्यक् प्रशान्तं,
श्रीपूर्णानन्दनेत्रद्वयरसविलसत्कोणकारुण्यमात्रम् ॥

(3)

तीर्थोंकी संख्या नहीं है। गंगा-पुष्करादि, महात्मागण, विद्वान्-सभी तीर्थ हैं। उनकी अद्भुत शोभा प्रत्यक्षरूपसे अनुभवमें आती रहती है। उनमें स्नान करो, दान करो, प्रवचन सुनो। उनकी पटुता सभी कलाओंका अतिक्रमण कर जाती है। परन्तु श्रीपूर्णानन्दतीर्थमें एक विचित्रता है। यदि एक बार, केवल एक बार थोड़ी देरके लिए उनके चित्रका भी आकलन कर लिया जाय तो वह श्रेय एवं प्रेय दोनोंको प्रत्यक्ष कर देता है और आत्मस्वरूप सच्ची पूर्णताका दान कर देता है ॥

वह दृष्टि जिसका लक्ष्य सूक्ष्म होता है, खुली रहकर स्थावर-जंगमको भी देखती रहती है किन्तु वासनाका स्पर्श भी नहीं होता। वह दृष्टि जिसमें दृश्य न हो, निर्विषय करणके समान हो और सम्प्रसन्न समाधिरूप हो। वह दृष्टि जिसमें द्वैत है ही नहीं, सब कुछ प्रत्यक् चैतन्याभिन्न निर्विकार एवं प्रशान्त ब्रह्म ही है। वह शाम्भवी मुद्रा, सम्प्रज्ञात समाधि अथवा निर्विकल्प निर्बीज ब्रह्मनिष्ठा श्रीपूर्णानन्दतीर्थ महाराजके नयन-युगलके विलासपूर्ण कोणका कारुण्य मात्र ही है ॥

(3)

महाराजश्री उड़ियाबाबाजी महाराजका जो बाल्यावस्थाका नाम था आर्तत्राण मिश्र। मुम्बईमें बहुत बड़े परलोक विद्याके आचार्य थे, वह कहते थे हम आत्माओंको बुलाते हैं। बड़ी भारी प्रतिष्ठा देश-विदेशमें सब जगह उनकी होती थी। उन्होंने कहा कि हम श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजकी आत्माको बुलाकर बात करावेंगे। हमने कहा कि अच्छा भाई बुलाओ ! अब हम लोग एक दिन, दो दिन, तीन दिन इस चक्करमें पड़े तो वह कहें कि आगये, अच्छा आगये तो उनका जन्मका नाम क्या था, हम पहचानते तो हैं नहीं कि आ गये अगर वह अपने जन्मका नाम लिख दें कि उनका जन्मका नाम क्या था तो मैं मान जाऊँ कि आगये। मुझे जो मन्त्र बताया था वह लिख दें; क्योंकि वह तो मेरे सिवाय और कोई नहीं जानता। तो दो-तीन-चार दिन सिर पीटनेके बाद उन्होंने कहा कि अब उनकी आत्मा व्यक्तिगत रूपसे कहीं नहीं है। उनकी आत्माका व्यक्तित्व है ही नहीं, परमात्मासे एक हो गया है इसलिए अब हमारे अन्दर ऐसी शक्ति ऐसा सामर्थ्य नहीं है कि हम उनको बुलावें।

आर्तत्राण उनके जन्मका नाम था, पर बाल्यावस्थामें उनके यहाँ ऐसी एक घटना घटित हुई थी कि वह जब संस्कृत पढ़नेके लिए, उनके यहाँ अंग्रेजी तो कोई पढ़ ही नहीं सकता था परिवारमें निषेध था, जब

संस्कृत पढ़नेके लिए पण्डितके पास गये, पण्डितजी रोज करते थे पूजा, और पूजा करते थे तो उनको बेलपत्रकी, तुलसीदलकी, फूलपत्रकी आवश्यकता पड़ती थी और विद्यार्थी लोग जाकर कहीं-कहींसे ले आते थे। वे एक दिन पाँच सात विद्यार्थी मिलकर एक बगीचीमें घुस गये चोरीसे कि यहाँसे फूल तोड़कर ले चलेंगे। जब बगीचेका जो माली था वह वहाँ पहुँचा तो दूसरे सब-के-सब बालक तो भाग निकले और ये चुपचाप वहाँ खड़े हो गये। मालीने जब देखा कि एक बालक खड़ा ही है औरोंका पीछा करनेकी क्या जरूरत और सब तो भाग गये पकड़में नहीं आये। पकड़में आये यह। उसने पूछा तुमने फूल तोड़ा 'हाँ तोड़ा है।' क्यों तोड़ा है? क्या यह जानके तोड़ा है कि यह दूसरेका बगीचा है? 'हाँ जानके तोड़ा है।' तो और सब विद्यार्थी बच गये और जितनी डाँट-फटकार मारपीट थी सब इनके ऊपर पड़ी। और चुपचाप, बोले नहीं प्रतिकार नहीं किया, रोये नहीं, किसीसे शिकायत नहीं की। सब-की-सब सह ली और खुशी इनको इस बातकी हुई कि मैं पिट गया तो पिट गया पर हमारे और साथी तो पिटनेसे बच गये। नाम किसीका नहीं बताया कि हमारे साथ कौन-कौनसे विद्यार्थी थे। यह भी नहीं कहा कि हम गुरुजीके लिए फूल तोड़ने आये थे, गुरुजीकी भी बदनामी नहीं हुई अपने साथियोंका नाम भी नहीं बतलाया और सबके बदले स्वयं पिट लिए। इसीको बोलते हैं होनहार बिरवानके होत चीकने पात। जो वृक्ष आगे चलकर बड़ा होनेवाला होता है छोटा होने पर भी उसके पत्तोंमें कुछ-न-कुछ चिकनायी होती है।

तो दूसरेको तकलीफसे बचानेका इतना ख्याल, इतना ख्याल उनको होता था कि उन्हें चाहे जितनी तकलीफ पड़ जाय, उन्हें चाहे जो कोई जो कुछ कह ले परन्तु; दूसरेको तकलीफ न पहुँचे इसका वे ख्याल रखते थे। पैदल चलते थे आप लोगोंको मालूम है। पैदल चलनेमें उनका ख्याल किस बात पर रहता था उनके साथ हो जाते थे कभी बीस जने, कभी तीस जने, पहले तो अकेले घूमते थे फिर दो-तीन घूमने लगे फिर बीस-पच्चीस-तीस तक साथ हो लें।

एक बारकी हमको याद है मटकैनासे चले, अनूपशहरके पास मटकैना है। मटकैनासे चले छतारी आये, हमको था बुखार थोड़ा-थोड़ा, तो जब छतारीसे निकले तो एक जगह आकर मैंने कहा कि 'हमको भूख लगी है और मैं थक गया हूँ।' तो जिस क्षणमें मेरे मुँहसे यह बात निकली उसके बाद एक कदम आगे नहीं चले। वहीं बैठ गये और मक्केकी चार रोटी कोई लाकर दे गया, वैसे हमको मक्केकी रोटी खानेकी आदत नहीं है; तुरन्त मक्केकी रोटी आयी और हमको खानेको मिली।

इसके बाद एक और बात आपको सुनाते हैं। वहाँसे बरौला शायद नाम है उस रियासतका छत्तारीसे गभानाकी तरफ जब चलते हैं तो बरौला ही नाम है। तो वहाँके राजा साहब जो थे, रामकुमार थे उन दिनों, उनके मुनीम दौड़ते हुए आये महाराजके पास कि राजासाहबकी तबीयत खराब है इसलिए आपके चरणोंमें नहीं आ सके और आप पधारिये उनकी प्रार्थना है रियासतमें चलिये। तो बाबा बोले देखो भाई आज तो हम वृन्दावन जा रहे हैं और वहाँ पहुँचना जरूरी है इसलिए राजा साहबके पास नहीं जा सकते, फिर कभी इधर आवेंगे तो राजा साहबके पास भी आ जावेंगे, परन्तु पेड़के नीचे जो बैठे थे न, हमको रोटी खिलाने, मैं थक गया था, तो थोड़ी देर बैठे रह गये, इसके बाद क्या देखते हैं कि राजा साहब नंगे पाँव, नंगे सिर, तबीयत अच्छी हो गयी थी उनकी बिलकुल, माने राजा-रईसोंके यहाँ यह भी एक बात होती है कि जरा तबीयत जल्दी खराब हो जाती है, धूपमें नंगे पाँव, नंगे सिर राजा साहब दौड़े हुए आये और चरणोंमें गिरकर उन्होंने प्रार्थना की कि महाराज आप हमारी रियासतमें जरूर चलिये तो तैयार हो गये बाबा, अब वृन्दावन आनेकी कोई जल्दी नहीं रही और वहाँ गये तो महाराज वह दो तीन-दिन तो कीर्तन हो रहा है, सत्संग हो रहा है, कथा हो रही है और जहाँ रहते वहाँ कड़ाही तो चढ़ती। बुल्ला साहबकी चार बात मशहूर थी। एक तो जहाँ वह रहते थे छनन मनन कड़ाही वहाँ चढ़ी रहती थी और साधु लोग आकर भोजन करते और जाते रहते थे। और

ढोलक बजती रहती थी 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे'। और ईंट भी खटकती रहती थी, कुछ-न-कुछ निर्माण कार्य होता ही रहता था। तो ईंट खटकना, ढोलक बजना, कड़ाहीमें छनन-मनन होना और साधुओंका आना और जाना—तो ये चारों बात हमारे महाराजजीके यहाँ भी होती रहती थी। अब वहाँ कई दिनों तक रहे और सत्संग चलता रहा।

हमारा आपसे देखो यह निवेदन करना है कि यदि कोई अपनेमें बड़प्पन रखकर साधूको बुलाना चाहता है कि हम बड़े हैं, राजा हैं, धनी हैं हमारे घरमें आ जायेगा तो साधू लोग उसके घरमें नहीं जाते, और यदि कोई विनयसे, दीनतासे, अभिमान छोड़कर बुलाना चाहता है तो ऐसे हम अनेक घरोंको जानते हैं जिनमें महाराज स्वयं पहुँच जाते थे।

एक सज्जन थे उन्होंने कहा कि महाराज कभी आप हमारे यहाँ पधारिये। महाराजने कहा कि अच्छा कभी हम घूमते-घामते आ जायेंगे। हमसे भी लोग कहते हैं कि महाराज कभी आप हमारे यहाँ पधारना तो हम तो सोचते हैं जब यह मोटरका बन्दोबस्त करेंगे या रेलगाड़ीसे ले जायेंगे या हवाई जहाजपर ले जायेंगे तब इनके घर जायेंगे, ऐसे कहनेसे हम थोड़े चले जायेंगे कि हमारे घर चलिये। पर महाराज तो घूमते थे पैदल, माँगते थे भिक्षा, अकेले रहें, दुकेले रहें, चाहे कहीं पहुँच जायँ।

एक सज्जनने कहा—महाराज 'हमारे घर आना।' सो घूमते-फिरते भिक्षा माँगते उसके घर पहुँच गये। अब घर पहुँचे तो वह नहीं था, उसके बाप थे और बाप थे जरा महाशयजी। महाशयजी तो आप जानते ही हैं, खुलासा करनेकी जरूरत तो है नहीं। महाशयजी माने आर्यसमाजी टाईपके, उन्होंने कहा इतना लम्बा-तगड़ा, इतना मोटा और भीख माँगता है, धरतीपर भार बना डोलता है काम क्यों नहीं करता? तो महाराजजीने कहा—'भाई, काम मिलता नहीं है, इसीलिए नहीं करते हैं। अगर कोई काम मिल जाय तो हम करनेके लिए तैयार हैं।' तो बोले कि—'देखो वह

चरी, ज्वार रखा हुआ है और वह गंड़ासा है, बैठ जाओ कुट्‌टी काटो हमारे बैलोंके लिए। ऐसे भिक्षा थोड़े ही मिलती है।' तो बैठ गये, कुट्‌टी काटने लगे महाराज, थोड़ी देर काटते रहे। इतनेमें उनका वही बेटा जिसने प्रार्थना की थी कि हमारे घर पधारना, वह आया, अब देखा कि महाराज तो हमारे घर बैठकर बैलोंके लिए चारा काट रहे हैं। अब बेचारा साष्टांग दण्डवत करके 'महाराज बड़ा अपराध हुआ, यह आप क्या कर रहे हैं?' महाराज हँसे, क्या बात है भाई हमको तो बहुत दिनसे यह काम करनेको नहीं मिला, आज हमने इसका मजा लिया कि यह कैसे होता है? हमको तो इसका बहुत बढ़िया मजा आ गया। तो एक ओर जहाँ राजा रईस बुलानेमें थोड़ा भी अहंभाव दिखाते थे वहाँ बिलकुल नहीं जाते थे। और एक ओर गरीब-से-गरीब भी अगर चाहता हो कि हमारे घर पधारें तो वे पधारते थे।

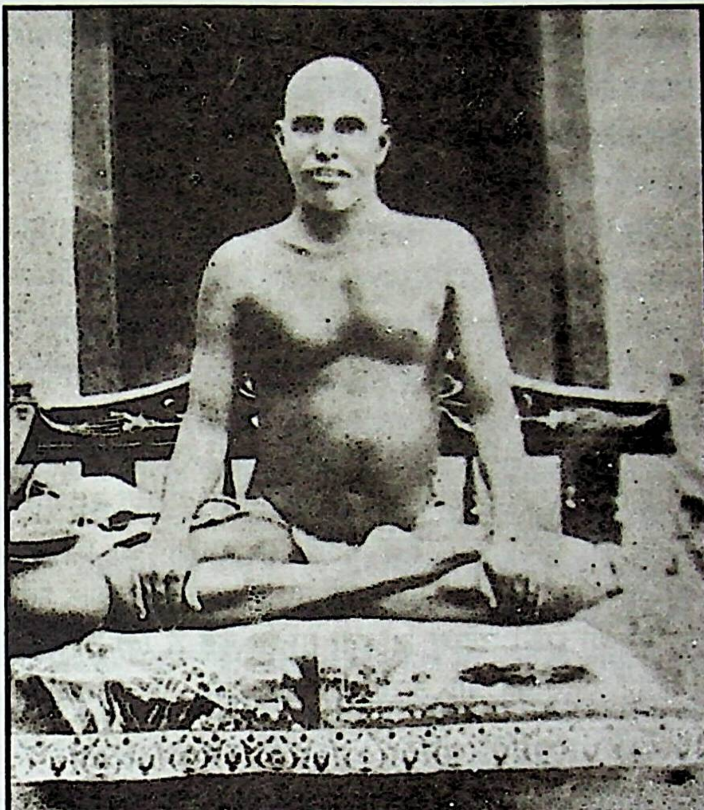
अच्छा! एक बात ऐसी आपको सुनाता हूँ जो साधुओंके जीवनमें शायद सुननेको कम मिलती हो। ईश्वरकृपासे वहाँके दो-तीन सज्जन अभी आये हुए हैं। वहाँके लोगोंने महाराजसे इतना प्रेम किया कि रातको जब महाराज कुटियामें, सोते तो थे नहीं बैठे रहते थे, दस वर्षके लगभग महाराज लेटे नहीं; बिलकुल सिद्धासनसे बैठे रहते थे, तो रातको जब वह सिद्धासनसे बैठ जाते कुटियामें ध्यान-भजन करनेके लिए तो गाँवके लोग बाहरसे ताला लगाकर तब गाँवमें जाते थे कि कहीं रातको ये भाग न जाएँ, मोहनपुर गाँवका नाम है, वहाँके लोग आये हुए हैं। एक नाई है महाराज बड़ा ढीठ है, हमसे बहुत प्रेम करता है, लेकिन मैं उससे आँख नहीं मिलाता, यहीं मिसरिया उसका नाम है। बहुत भलामानुस है, बहुत भला आदमी है। पर अब महाराजजीके साथ सखा भावसे खेल चुके हैं जो लोग, तो अब उनकी जो रीति-नीति, रहनी-सहनी है अब वह तो बिलकुल दूसरे ढंगकी हो चुकी है। सो महाराज वहाँ क्या हो? कि हे महात्माओं, संन्यासियों, जो लोग अपनेको संन्यासी मानते हों वह थोड़ी देरतक हमारे महाराजजीको संन्यासी न मानें। रोटीके समयपर गाँवमें निकले, रोटीके लिए। 'कहो बाबा रोटीके लिए आये हो। तो घरमें कोई

बच्चा खिलानेवाला तो है नहीं और रोटी अभी सिंकी नहीं है तो बैठ जाओ जरा बच्चेको संभालो, तो लो खेलाओ बच्चेको हम रोटी बनाकर तुमको खिलाते हैं।' अब लेकर बच्चा बैठ गये और बच्चा खेला रहे हैं और उनके लिए रोटी बन रही है। ये गीता प्रेसके संन्यासी नहीं हैं, ये हमारे संन्यासी दूसरी दुनियाके होते हैं।

अब महाराज किसीके घर गये, कहा 'अच्छा बाबा रोटीके लिए आ गया? अभी तो हमारे रोटी तैयार नहीं है, मसाला पिसा नहीं है तो मैं रोटी बनाऊँ कि मसाला पीसकर सागमें डालूँ। बैठ जाओ जरा मसाला पीसो' अब बाबाजी वहाँ बैठकर मसाला पीस रहे हैं और घरमें रोटी बन रही है। यहाँ बैठी हैं माई।

हमारा कहनेका अभिप्राय यह है कि यह देहके साथ जो मैं जुड़ा हुआ है न यह जबतक पूरा छूट नहीं जाता, तबतक न कोई पूरा संन्यासी होता है, न उदासी होता है, न वैष्णव होता है। यह देहके साथ मैं को जोड़कर और यह सोचना कि हम भगवान्‌के धाममें बिलकुल पहुँच गये और उनके हो गये, या तो देहके होकरके रहोगे और या तो भगवान्‌के होकर रहोगे। देहके साथ जो मैंपना है उसको छोड़ना पड़ता है और जहाँ देहके साथ मैं छूटा वहाँ भगवान्‌के साथ एक हुए।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः !



यत्किञ्चिद्वास्तु वस्तु प्रणमत कृतिनो ज्ञानतोऽज्ञानतो वा,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थामृतकणपवनस्पर्शधन्यं धरण्यम्।
यत्सम्पर्कादनर्हामिव हरिहरतां मन्यमाना महान्तः,
स्वान्तर्व्योम्नि प्रशान्तं निरुपधिविमलं ब्रह्म पूर्णं लभन्ते॥

रे रे ब्रह्माण्डकोट्यः फलतः बहुविधं रोमकूपेष्वभीक्ष्ण-
मीशा रे सावकाशं निजपदविहितां सद्व्यवस्थां विधत्त।
रक्ता भक्ता विरक्ता विलसत सकलं सत्कले निष्कले वा,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थे वयमिह कुशला उत्कलं संविशामः॥

(4)

सज्जनों! धरतीपर चाहे कोई भी वस्तु क्यों न हो, जो श्रीपूर्णानन्दतीर्थके अमृतकणसे प्लावित वायुके स्पर्शसे धन्य हो चुकी हो, उसे ज्ञान या अज्ञानसे प्रणाम कीजिये। उस वस्तुके सम्पर्कसे महापुरुषोंके हृदयमें भी वैराग्यकी ऐसी उदात्त भावना उदित हुई है कि उन्होंने हरिहर पदवीको भी अयोग्य समझकर अपने हृदय-आकाशमें प्रशान्त, निर्माय, निर्मल, पूर्ण ब्रह्मको प्राप्त किया है॥

अरे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डो! तुम हमारे एक-एक रोमकूपमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे बार-बार फूलो-फलो। रे ब्रह्माण्डके स्वामियों! तुम अवकाशके अनुसार अपने पदकी मर्यादाके अनुसार ब्रह्माण्डोंकी सद्व्याख्या करो। रागी, भक्त और विरक्तों! तुम लोग सकल, सत्कल या निष्कल ईश्वरमें विहार करो। हम चतुर लोग इसी धरती पर, इसी जीवनमें उत्कल श्रीपूर्णानन्दतीर्थमें भली-भाँति प्रवेश कर रहे हैं॥

(4)

देखो, भेद की जो व्याख्या है उसके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी विचारधारा है। एक मत है कि भेद वास्तविक है ज़ैसे जैन हैं, नैयायिक हैं। तो उन लोगोंकी चर्चा हम छोड़ देते हैं वेदान्तियोंमें जो भेदकी व्याख्या है। इतना तो स्पष्ट है कि भेदमें परिवर्तन है और भेदमें अनेकता है और भेद अपने लिए स्थान चाहता है। यदि परिवर्तन न हो तो वह मुझसे अलग है यह मालूम ही न पड़े। हममें परिवर्तन न हो और सामनेवाली चीजमें परिवर्तन हो तब वह मालूम पड़ेगी कि वह है। और अनेकता उसमें हो चाहे वह एक साथ अनेक भासे, चाहे बारी-बारीसे अनेक भासे, चाहे स्थानके भेदसे अनेक भासे। तो मूल प्रश्न जो उठता है वह यह कि यह भेद विशेषण है कि कार्य, भेद विशिष्ट है अधिष्ठान, या भेद विशिष्ट है स्वप्रकाशात्मा अथवा भेद आत्माका परमात्माका कार्य है। माने परमात्मा ही भेदके रूपमें बना हुआ है। या भेद हमेशासे वास्तविक है। यह पक्ष; और भी कुछ थोड़ेसे पक्ष हैं। भेदाभेद है, अत्यन्त भेदाभेद है। तो इस भेदको लेकर वेदान्ती सम्प्रदाय हैं माने रामानुज, वल्लभ, मध्व, निम्बार्क, इनमें भेदकी व्याख्या करनेमें बड़ा भारी मतभेद हो गया है। तो विशिष्ट माननेका तो अर्थ ही होता है कि यह विशेषण रूप जो भेद है यह सत्य है और सर्वदा है। और वास्तविक भेद जैसा कि मध्वाचार्यजी मानते हैं उन्होंने भी भेद माननेमें ईश्वर और जगत्का भेद तो वास्तविक नहीं माना, ईश्वर और जीवका भेद वास्तविक माना है। तो वह भेदाभेद शब्दसे न बोलकर स्वतंत्रास्वतंत्र शब्दसे बोलते हैं। तो उनके मतमें भी भेद जीवमें हमेशासे ही हैं, हमेशा रहेंगे और वह परतन्त्र हैं भगवान्के। भगवान् हँसावें तो हँसे, नचावें तो नाचें; उसीमें-से श्री चैतन्य महाप्रभुका मत निकला है।

और श्री निम्बार्क सम्प्रदायमें भेद जो है वह कार्य है परमेश्वरका, कभी वह भेदके रूपमें आविर्भूत होता है और कभी भेदको मिटा देता है इसलिए भेद ही उनके मतमें परमात्माका स्वरूप है। परन्तु जहाँ अत्यन्त स्थूलता भेदमें आ गयी है वह संसार हो गया और जहाँ भेदमें अत्यन्त

सूक्ष्मता है वहाँ नित्यधाम, वह तो भगवन्मयी लीला ही होती रहती है। तो श्रीमन्निम्बार्काचार्यके सम्प्रदायमें-से हरिदास सम्प्रदाय जो है वह निकल गया। और मध्व सम्प्रदायमें गौड़ेश्वर निकल आया।

ऐसे आचार प्रधान जो अद्वैती हैं उनमेंसे कुछ कम आचार प्रधान दशनामी संन्यासी जो हैं, ये निकल आये। आचार-प्रधान दण्डी हैं, सिद्धान्त एक है परन्तु आचार प्रधान दण्डी हैं वर्णाश्रमको पूरी मान्यता देते हैं और ये दशनामी जो हैं ये वर्णाश्रमको पूरी मान्यता नहीं देते हैं। वैसे व्याख्यानमें देते भी हों तो भी व्यवहारमें नहीं है। वह वर्णाश्रमको और स्मार्त धर्मको और स्मार्त सदाचारको प्रधानता देते हैं सिद्धान्तमें भेद नहीं है। तो सदाचारकी कट्टरतासे कुछ अलग रहकरके जो संन्यासी हैं वह परमहंस कोटिमें हो जाते हैं। माने हर जगह दो हो गया—श्रीरामानुज सम्प्रदायमें तो जैसे विशेषण विशेष्य है वैसा ही रामानन्दियोंका भी है। परन्तु श्रीरामानुज सम्प्रदाय आचारमें बहुत कट्टर हो गया है। और श्रीरामानन्दी सम्प्रदाय जो है वह आचारमें ढीला हो गया है। ये रसिक लोग हैं।

श्री विष्णुस्वामी सम्प्रदाय भी आचारमें बहुत कट्टर है; लेकिन श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजका सिद्धान्त जब आया तो उसमें पुष्टि और मर्यादाका भेद करके मर्यादी लोगोंको कट्टर रहना पड़ता है और पुष्टिमें जानेके बाद फिर उनके लिए कोई खास बात नहीं रहती है, उनका भी ऐसे दो विभाग हो गया है। पर मूल प्रश्न जो है वह यह है कि भेदकी तुम्हारे यहाँ व्याख्या क्या है? भेदके रूपमें परमात्माका आविर्भाव हुआ है कि भेद परमात्माका कार्य है कि भेद परमात्मामें हमेशासे है ही, कि भेद विशेषण है। भेद सम्बन्धी सबकी व्याख्याओंमें अन्तर पड़ता है।

अब एक और मूल बात यह है कि परिभाषाओंमें भेद कर देते हैं। जैसे सत्यकी परिभाषा क्या है? सत्य किसको कहते हैं? तो यह श्रीरामानुज सम्प्रदायमें कहते हैं जो वस्तु कारणमें बीज रूपसे विद्यमान रहे और समय आनेपर अंकुरके रूपमें प्रकट हो जाय तो यदि बीजके रूपमें भी उसका लोप नहीं होता है तो उसको सत्य ही मानना चाहिए। मेंढ़क बरसातके दिनोंमें मिट्टीमें विलीन हो जाते हैं तो मिट्टीमें मेंढ़क मण्डूक

विशिष्ट मृत्तिका जो है वह मण्डूकका बीज है। इसी तरह संसारमें जितने जीव हैं उनकी उपाधि जीव और ये सब प्रपंच, यह सबका सब अर्न्तयामी परमेश्वरका विशेषण है। एक, ये सब नियम्य है और परमेश्वर नियन्ता है।

अब अद्वैत वेदान्तियोंको इनमें-से किसी भी प्रक्रियामें कोई आपत्ति नहीं है, चिरंजीव्यताम् बोलते हैं आप लोग हमेशा जिन्दा रहिये और त्वन्मुखे घृतर्शकरा—तुम्हारे मुँहमें घी शक्कर, हमारे विचारकी प्रणाली दूसरी है। वह यह है कि जो चीज अनेक होती है वह किसी एकमें रहती है। यह बात बिलकुल पक्की है। अच्छा भेद होगा तो किसीसे भासेगा, भेदके भानके लिए चेतन आवश्यक है, चेतन न हो तो भेद भासे किसको ? अच्छा भेदके रहनेके लिए स्थान आवश्यक है। तो छोटे-मोटे स्थानकी जगह जो निरतिशय स्थान है, माने जिस स्थानको दूसरे स्थानकी जरूरत नहीं पड़ती उसको अधिष्ठान बोलते हैं। है तो वह स्थान, परन्तु और सब स्थानोंको स्थानकी जरूरत पड़ती है और वह पराकाष्ठाका स्थान है, इसलिए वह अधि; अधि माने सर्वोपरि निरतिशय सर्वाधिक; स्थान माने उससे बड़ा कोई स्थान नहीं। 'निरतिशय बृहत्ता शालित्व'—ऐसे बोलेंगे, हमारे वेदान्तियोंकी परिभाषामें।

तो भेद उस अधिष्ठानमें रहता है जिसका कहीं कोई ओर-छोर नहीं है। तो निरतिशय अधिष्ठानमें जो भेद रहेगा उसके बारेमें यह बात मालूम पड़ेगी कि बदलते हुए भेद और स्थान भेदसे भेद और परिवर्तनसे भेद और गुणधर्मसे भेद, ये सब भेद होंगे न, कोई गुणधर्मसे भेद होगा और कोई नामरूपसे भेद होगा, कोई परिवर्तनसे भेद होगा, तो ये सब-के-सब भेद अपने अभावसे युक्त ही होते हैं, यह भी एक नियम है। तो यह भेद और भेदाभाव दोनोंका अधिष्ठान एक होगा।

अब जहाँ स्वयं भेद और भेदाभाव, घट और घटाभाव, यदि एक ही स्थानमें प्रतीत होता हो यस्याभावः स प्रतियोगी, घट प्रतियोगी ज्ञानका अभाव है घट प्रातियोगिक अभावका ज्ञान होता है, जिसने घड़ा देखा है माने घड़ेका एक रूप देखा है मिट्टीका बना हुआ सफेद; फिर उसने उसको काला; फिर उसीने उसको देखा लाल, तो घटके अनेक रूप जिसने

देखे हैं उसके लिए उसमें जो मृत्तिका है वह एक है यह बात ध्यानमें लानी पड़ेगी और मृत्तिका नहीं तो आकाश तो एक होगा ही होगा, तो अभावका एक अर्थ तो यह हो गया कि पहले घड़ा नहीं था और बना प्रागभाव हो गया और बना हुआ है टूट जायेगा यह प्रध्वंसाभाव हो गया और कपड़ेके साथ उसका अन्योन्याभाव हो गया, घट: पटो न पट: घटो न, और घट वहाँसे हट गया, तो हट गया तो जिसने वहाँ घट देखा है उसको साफ मालूम पड़ेगा कि अत्र घटो नास्ति।

अब एक चीज ऐसी है कि जब हम उसको देखते हैं, आकाशके स्वरूपका जब ध्यान करते हैं तो नीलिमा बिलकुल दृष्टिगोचर नहीं होती। और जब नीलिमा देखते हैं तो वहाँ आकाश दीखता है तो जब एक ही वस्तुका भावाभाव दोनों, एक ही प्रकाशकको और एक ही अधिष्ठानमें मालूम पड़ते हैं तो हम उस घटके भावाभावको अधिष्ठानका कार्य कहें, तो कार्य कहें तो अभाव भी उसीमें है। यदि विशेषण कहें तो वह कभी रहता है कभी नहीं रहता है। और यदि वास्तविक कहें तो तत्त्वदृष्टिसे वास्तविक है ही नहीं। यह भी बिलकुल अनुभवसे सिद्ध है। तो ऐसी स्थितिमें भेद दृष्टिगोचर है यह माननेमें तो कोई आपत्ति नहीं है। सार्वजनिक प्रत्यक्ष है भेद मालूम पड़ता है। परन्तु स्वप्रकाश अधिष्ठानमें वह जो भेद दीख रहा है वह अज्ञान दृष्टिसे सत् है और ज्ञान दृष्टिसे असत् है, अज्ञान दृष्टिसे उसको असत् नहीं कह सकते, क्योंकि दीख रहा है। तो जो उस भेदको सत्य मान रहे हैं उनको अधिष्ठानका दर्शन नहीं हुआ है यह बात माननी पड़ेगी और जो उस भेदको असत्य भी मान रहे हैं वह सार्वजनिक अनुभवका अनुगमन कर रहे हैं। तो इसलिए मान लिया कि यह भेद न घोड़ा है, न गधा है, परन्तु; दोनोंके मिश्रणके लिए भी किसी शब्दका प्रयोग करना चाहिए। तो उसके लिए वेदान्तियोंने अनिर्वचनीय शब्दका प्रयोग किया है। न कार्य न विशेषण न वास्तविक, न एक कालिक न अनेक कालिक, न एक न अनेक; क्योंकि प्रतीतिमें गणना भी नहीं होती है विस्तार भी नहीं होता है और कोई परिवर्तनशील एक सत्ता भी नहीं होती है। तो; वेदान्तियोंने कहा कि इसके लिए अनिर्वचनीय शब्दका प्रयोग करना सबसे उपयुक्त है। तो

भेद कैसा है कि—सत्त्वासत्त्वाभ्यां अनिर्वचनीयः—इसको न सत्य कह सकते हैं, न असत्य कह सकते हैं। जबतक अज्ञान है तबतक सत्य है, और ज्ञान है तो असत्य है। इसलिए भेद क्या है? बोले सत्यासत्यका मिश्रण। इसके लिए मिथ्या शब्दका प्रयोग इन्होंने किया है।

एक बात हम बहुत जोर देकर कह सकते हैं कि चाहे कोई कितना बड़ा भी द्वैतवादी हो उसने केवल सत्य और असत्यका तो भेद किया है कि बन्ध्यापुत्र असत्य है, और घट सत्य है। ठीक है घड़ेसे पानी पिया जाता है सत्य है। और बन्ध्यापुत्र किसी काम नहीं आता असत्य है; परन्तु कोई वस्तु सत्य असत्य दोनोंके बीचमें भी होती है वह कहते हैं कि जो असत्य होता है वह कभी भासता ही नहीं है। यह नियम बना दिया सारे द्वैतवादियोंने। हम यह बात बहुत प्रामाणिक रूपसे बोल रहे हैं उन्होंने यह नियम बना दिया कि जो असत्य होता है कभी भासता ही नहीं। और जो सत्य है वह भासता ही भासता है। तो हम कहते हैं, हम माने अद्वैत वेदान्ती, इस समय हम समझ लो अपनेमें अद्वैत वेदान्तित्वका अध्यारोप कर लेते हैं। जब कोई बात कहनी हो उसकी ओरसे ईमानदारीसे कहनी चाहिए। अद्वैत वेदान्तियोंका यह कहना है कि जो तुम कहते हो कि जो सत्य है सो सत्य है जो असत्य है सो असत्य है, असत्य भासता नहीं और सत्य ही भासता है। तो जो भासता है वह भी सत्य है तो यह नियम तुम्हारा बिलकुल गलत है। द्विचन्द्र आदिका जो भान होता है और गगन नीलिमाका जो भान होता है और स्थाणुमें पुरुषका जो भान होता है वह भान होते हुए भी सत्य नहीं है।

तो सत्य एक वस्तु है और भान होना दूसरी वस्तु है। इसलिए जो भान हो वह सत्य ही है यह नियम नहीं है और जो अभाव हो वह असत्य ही है यह नियम भी नहीं है। इसलिए दोनोंके बीचमें जो अधिष्ठानके अज्ञान पर्यन्त तो भासे और अधिष्ठानका ज्ञान हो जानेपर सत्यत्वेन न भासे; भासे तो सही; परन्तु सत्यत्वेन न भासे उसके लिए हम मिथ्या शब्दका प्रयोग करते हैं।

हमारे द्वैतवादी मित्रोंने क्या किया कि उन्होंने केवल सत्य और असत्य दो विभाग किया और अद्वैतियोंने जो एक तीसरी चीज 'मिथ्या'

निकाली थी, अनिर्वचनीय मिथ्या उसकी ओरसे उन्होंने आँख बन्द कर ली। तो उनकी परिभाषामें चूँकि दो ही चीज होती है इसलिए संसारका सत्य होना जरूरी है। उन्होंने जो सत्यकी परिभाषा की कि भासना ही, जो सत्य होता है भासता है, संसार भास रहा है इसलिए द्वैतवादी मित्रोंके सिद्धान्तमें संसार सत्य है।

एक सत्ख्याति होती है एक होती है असत्ख्याति एक सद्-असद् ख्याति एक अन्यथा ख्याति, एक आत्मख्याति, एक अनिर्वचनीय ख्याति, ऐसे ख्यातियोंके भेद होते हैं। माने जिस अधिष्ठानमें जो चीज भास रही है वह कैसे भास रही है ? आखिर भ्रम कैसे होता है ? ख्याति माने भ्रम। तो अन्यमें जो अन्यकी ख्याति है, अध्यास है, वह कैसे होता है इसकी व्याख्या करते हैं। और अद्वैती मित्रोंकी परिभाषा यह है कि न भासना असत्यका लक्षण नहीं है और भासना सत्यका लक्षण नहीं है। अधिष्ठानका ज्ञान होने पर भी यदि वस्तु सिद्ध हो जाय वह सत्य है। और अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर वस्तु सिद्ध न हो तो भले भासती रहे वह मिथ्या है।

इसलिए इनका जो मिथ्या शब्दका प्रयोग है वह अज्ञान और अधिष्ठान दोनोंका जो मिश्रण है ना; 'मिथा' शब्द जो है संस्कृतमें मिथ्या माने परस्परम्। मैथुन माने पति-पत्नी तो मिथ्या माने क्या ? अविद्या और ब्रह्मका मिथुन। अविद्या और ब्रह्मके मिथुनको ही मिथ्या बोलते हैं।

तो जहाँ अधिष्ठानके ज्ञानसे अविद्या निवृत्त हो जाती है और अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित जो अधिष्ठानाभिन्न स्वप्रकाश ब्रह्म चैतन्य है उसीका नाम मोक्ष है, उसीका नाम परमार्थ है उसीका नाम परमात्मा है। मोक्ष भी परमार्थ नहीं है।

अद्वैतियोंके मतमें मोक्ष जो है वह परमार्थ नहीं है। वह तो केवल बन्धनकी निवृत्तिकी एक कल्पित संज्ञा है मोक्ष। इसलिए अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित; उपलक्षित माने अविद्याकी निवृत्ति जिसका इशारा है, जिसका संकेत है माने अविद्या कालमें जो अविद्याको प्रकाशित कर रहा था और अविद्या निवृत्तिमें जो अविद्या निवृत्तिको प्रकाशित कर रहा है और प्रकाशित कर रहा है कि प्रकाशक है कि प्रकाश्य है, ये सब भेद नहीं।

तो अब देखो ऐसी स्थितिमें जो तुम कहते हो कि विशिष्टमें और मिथ्यामें भेद नहीं है इसको विशेषण वादी जो हैं वे ऐसा कहते हैं कि 'मिथ्यावादी जो हैं वे ऐसा कहते हैं।' असलमें यह मिथ्यावादियोंकी, वैष्णव लोग इसी शब्दका प्रयोग करते हैं; वेदान्तियोंके लिए वैष्णव ग्रन्थोंमें मिथ्यावादी शब्दका प्रयोग है भला। अपने द्वैतवादी आचार्यों द्वारा बहुत करके मायावादी शब्दका प्रयोग करते हैं; वेदान्तियोंके लिए वैष्णव ग्रन्थोंमें मिथ्यावादी शब्दका प्रयोग है भला! अपने द्वैतवादी आचार्योंने बहुत करके मायावादी शब्दका प्रयोग किया है। वल्लभाचार्यजीने तो मायावादी शब्दका ज्यादा प्रयोग किया है अद्वैतियोंके लिए। यह गाली है असलमें उन लोगोंकी ओरसे यह वेदान्तियोंको दी हुई गाली है। तो ठीक है वे गाली देकर भी तो अपना 'देवनां प्रिय: विख्यापितं।' काशीमें एक पण्डित आये थे तो बहुत गाली देते थे। दक्षिण प्रदेशसे आये थे। और 'प्रतिवादी भयंकर' उनका नाम था, खूब गाली देते थे। तो काशीके पण्डितोंका यह पर्चा छपा था वह ऐसे छपा था—

'ददतु ददतु गाली गालीमन्तो भवन्त:' आप खूब गाली दीजिये। खूब गाली दीजिये; क्योंकि जैसे कोई धनका धनी होता है वैसे आप गालीके धनी हैं गालीमन्तो भवन्त: यथा धनवन्तो लक्ष्मीवन्तो भवन्ति तथा भवन्तो गालीवन्तो भवन्त:।

तो यह जो विशेषणका विचार है, भेदका विचार है इसको हम अनिर्वचनीय कक्षामें डालते हैं। इसमें एक बात इससे बहुत बढ़िया निकलती है कि आओ भेदका विचार न करके यदि मिथ्या है, अनिर्वचनीय है तो इसके लिए अपनी बुद्धि क्यों लगाना?

हमारा ईश्वर है इतना ही सत्य यह संसार है क्या? यदि उतना ही सत्य है तो फिर इसको छोड़कर उसकी उपासना क्यों? यदि उतना ही सत्य, उतना ही ज्ञान, उतना ही आनन्द जितना ईश्वरमें है उतना ही संसारमें है तो इसको छोड़कर उसकी उपासना क्यों? और जो कुछ ईश्वरमें है, उससे यदि संसार कम है तो स्थानमें कितना कम है, उम्रमें कितना कम है, वजनमें कितना कम है, गुणमें कितना कम है, धर्ममें कितना कम है

बताओ, तो कोई उसका निर्वचन करनेमें समर्थ; 'दुर्वचनं ब्रह्मणोऽपि' ब्रह्मा भी इसका निर्वचन नहीं कर सकता। तो ऐसी स्थितिमें—

'परमार्थे ब्रह्मसत्तया अपेक्षयया किंचित् न्यूनसत्ताकत्वं।' यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि परमार्थ ब्रह्म सत्ताकी अपेक्षा इसकी सत्ता कुछ न्यून है। और वह न्यूनता होगी अनिर्वचनीय। और अनिर्वचनीयता आते ही मिथ्यात्व जो है वह सिर पर सवार हो जायेगा। देश दृष्टिसे मिथ्या है तो क्या, काल दृष्टिसे मिथ्या, वस्तु दृष्टिसे मिथ्या और परमार्थ दृष्टिसे देश-काल-वस्तु यह तीनों एक ही तराजूके चट्टे बट्टे हैं। एकके बिना दूसरेकी, दूसरेके बिना तीसरेकी, तीसरेके बिना दूसरेकी, दूसरेके बिना पहलेकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए परमार्थ ब्रह्म सत्तामें इनकी कोई कीमत नहीं रह जाती है।

अब देखना यह है कि जिसको हम परमार्थ कहते हैं वह होना क्या चाहिए? यह होना चाहिए कि वह होना चाहिए कि मैं होना चाहिए। तो इन तीनोंको ही पहले तराजू पर तौल लें। तो बिना मैं के 'यह' और 'वह' की वृत्ति कभी उदय हो ही नहीं सकती। जब कहेंगे कि अयं परमार्थः तो यह परमार्थ है इत्याकारक वृत्तिका जो प्रकाशक है वह तो रहेगा ही रहेगा। उसको मिटाकर तो 'अयं परमार्थः' बन ही नहीं सकता। क्योंकि 'तद्वा भवतु एतद् वा भवतु' वह तत् हो चाहे एतत् हो, वह अहं बिना, माम् बिना, माम् को हम अहं बोलते हैं। वह अहं बिना, अहम् ऋते उसकी सिद्धि होगी ही नहीं। तब यह मानना पड़ेगा वहसे भी अहं बड़ा है और यहसे भी अहं बड़ा है; क्योंकि दोनोंका साधक है। भागवतका बहुत बढ़िया वचन है—

'भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्यत्तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा।'

जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है और जिससे जिसकी सिद्धि होती है उस साधकसे और उत्पादकसे उत्पाद्य और प्रकाश्य वस्तु अलग नहीं होती—

न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्यत्तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा॥

जो पहले नहीं थी, जो बादमें नहीं रहेगी, वह बीचमें भी नहीं है—व्यपदेशमात्रम् वह केवल—

वाचारम्भणं विकारो नाम ध्येयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्

यह हो गया। इधर बहुत दिनों तक भागवतकी चर्चा की, भक्तिकी चर्चा की तो यह अंग थोड़ा हल्का पड़ गया था, तो मैंने कहा आओ भाई थोड़ी इसकी चर्चा कर लें।

तो अब यह बात रही कि परमार्थका निर्णय करनेके लिए, कल भी सुनाया था कि अन्तर्यामीकी, जिसको हम अन्तर्यामी कहते हैं वह हमारे छोटे अहंका तो अन्तर्मन करता है, उसका नियमन करता है। अब यदि उस अन्तर्यामीका भी कोई साक्षी हो तो नियम्य होगा ही नहीं। यदि कोई देख रहा है कि यह रहा अन्तर्यामी, जो दीखेगा वह अन्तर्यामी होगा। अच्छा जो देखनेवाला है उसमें भी जो नियन्त्रित्व रूप अंश होगा वह भी दृश्य होगा। इसलिए नियन्त्रित्वेन अंशेन वह दृश्य ही होगा द्रष्टा नहीं होगा।

अच्छा! अब आगे चलें! द्रष्टा काहेका भाई एक बार श्रीमहाराजजीने पूछा—'क्यों शन्तनु द्रष्टा और दृश्यकी सन्धि क्या है?' दोनोंके बीच वह विभाजक रेखा, यह विभाजक रेखा मेरा शब्द है, यह तो मैं अपनी ओरसे बोलता हूँ। उन्होंने कहा 'द्रष्टा और दृश्यकी सन्धि क्या है?' तो मैंने कहा कि 'एक द्रष्टा हुआ एक दृश्य हुआ तो सन्धिमें दृष्टि होगी' तो वे हँसने लगे। बोले कि नहीं यह तो ठीक नहीं है। 'नहीं रे! द्रष्टा और दृश्यकी सन्धिमें द्रष्टाके परमार्थ स्वरूपका अज्ञान है दृष्टि नहीं है। अज्ञान है। यदि दाहिने वाले आकश और बाँए वाले आकाशकी विभाजक रेखा यह अंगुली है तो आकाशके स्वरूपका अज्ञान है कि नहीं?' बिलकुल ही अज्ञान है। आकाशमें दाहिने वाला आकाश और बाएँ वाला आकाश नहीं होता। तो इसलिए वेदान्त जो कहते हैं ना कि वेदान्त विधि रूप नहीं है उसमें उद्देश्य विधेय भाव नहीं है। कि आत्मा उद्देश्य हो और ब्रह्मत्व विधेय हो; ऐसा नहीं है। बल्कि आत्माका जो स्वतः सिद्ध ब्रह्मत्व है उसका बोधक ही महावाक्य है। ब्रह्मत्वका विधायक नहीं है। इसीसे यह वेदान्ती लोग शास्त्रार्थ करते हैं कि—आत्मा वारे द्रष्टव्यः—यह

विधिवचन है कि नहीं है। श्रोतव्य तो विधि वचन है 'श्रोतव्य: मन्तव्य: निदिध्यासितव्य: ' यह तो विधि वचन है परन्तु द्रष्टव्य विधि वचन है कि नहीं है? तो यह जो वेदान्तियोंकी रीति है उसमें न भेद वास्तविक है, न भेद कार्य है, न भेद विशेषण है और न तो भेद प्रक्रियामें।

अब देखो प्रक्रियामें भेद क्या है? औपाधिक है। माने यादृश-करणसे सम्बद्ध होकर हम देख रहे हैं तादृश भेदकी प्रतीति हो रही है उपाधि है माने अपने आसपास रखी हुई चीज। उप माने पास और आधान माने रखी हुई। और उपधान करे माने जैसे तकिया; तकियाको संस्कृतमें उपधान बोलते हैं। तो यह सिरके नीचे जब लगाते हैं तब सिर ऊँचा हो जाता है तो जो सिर ऊँचा नहीं है उस सिरको ऊँचा बना देने वाला जो पदार्थ है उसका नाम होगा उपधान। उपधानं उपाधि: और उपाधानं उपाधि जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसी करके दिखा दे उसको बोलते हैं औपाधिक। उपाधि। और उस उपाधिसे जो दीखता है उसको बोलते हैं औपाधिक। हरा चश्मा पहन लिया तो उपाधि हुई हरा चश्मा और जो भीत (दीवाल) हरी दीखने लगी वह भीतकी हरियाली हो गयी औपाधिक। अब यह कहते हैं कि यह जो प्रपंचमें तुमको शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख, दु:ख ये सात चीज, महाराजजी नाम लेते थे ये सात चीजका; शब्द, स्पर्श आदि पाँच और दो सुख-दु:ख भीतरवाले ये सातों औपाधिक हैं। असलमें वैराग्य भी होना चाहिए। उपाधि भले बनी रहे परन्तु उपाधिमें यह जो सातोंका आना जाना है उनसे होना चाहिए वैराग्य। वैराग्यका मूल रूप वही है। सुख-दु:ख-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—ये जबतक उपाधियाँ रहेंगी तबतक आते जाते रहेंगे। लेकिन ऐसे ही हैं जैसे कोई बड़ा शीशा लगा दिया गया हो और सड़क परसे तांगा निकल गया, मोटर निकल गयी, निकल गयी, पुरुष निकल गया और शीशेमें दिख गयी तो शीशा क्या यह चाहता है कि यह परछांई हमारे भीतर पड़े और यह परछाँईं न पड़े।

योगी लोग चाहते हैं कि यह परछांई हमारे भीतर पड़े ही नहीं और इसी परेशानीके कारण उनकी सारी जिन्दगी खराब हो जाती है। उनकी

जिन्दगी माटीमें मिली इसीलिए कि वे कहते हैं कि हमारे इस शीशेमें अमुक-अमुक चीजकी परछांई नहीं पड़नी चाहिए। अच्छा भक्त लोग कहते हैं कि अमुक परछांई ही हमेशा पड़े। अच्छा वे परछांई हमेशा नहीं पड़ती है तो हाय हुसैन आ गया। हाय हुसैन आया कहाँसे? यह मातम पुर्सी जो है, वह इसीलिए तो आयी कि यह परछांई हमारे हृदयमें हमेशा बनी रहे, और योगी लोग कहते हैं कि यह परछांई हमारे शीशेमें पड़े नहीं और वेदान्तियोंका कहना है कि शीशा तो शीशा है। परछांई कुछ भी पड़े, न उसमें घोड़ा घुसा, न गधा घुसा, न उसमें गाय घुसी, न उसमें देवता घुसा। वह शीशा तो शीशा है चमक रहा है। अब उसमें जो चमके उसको चमकके जाने दो। उसको पकड़के मत रखो, सटाओ मत और हटाओ मत। और समग्र प्रपंचको उस शीशेमें यथा समय, कि प्रातःका समय है आहा क्या सुहावना समय है आज तो बड़ी अच्छी हवा चल रही है, शीतल मन्द सुगन्ध वायु बह रही है। अब मरो उसके लिए कि वही चले हमेशा। वह तो हमेशा नहीं चलेगी। आहा क्या बढ़िया सुन्दर दृश्य है महाराज, वह पावन पुलिन है गङ्गाका तट है।

एक हमारे गुरुभाईजी थे। गुरु भाई माने स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराजके एक शिष्य, संन्यासके गुरु तो हमारे वह ही थे ना। तो उनके एक शिष्य हुए तो हमसे बादमें शिष्य हुए। वे रहने लगे जोशी मठमें अब महाराज वह बढ़िया चमचम कपड़ा, वह पहले मखमल और रेशमसे कम तो कपड़ा पहनते ही नहीं थे। दण्ड जो था उनका वह बिलकुल मखमली कपड़ेमें बँधा हुआ रहता था। एक बार दो वर्ष उसी मठमें रहे, तों उतरके आये तो मैंने पूछा क्या अनुभव हुआ स्वामीजी आपको वहाँ? क्योंकि मैं बड़ा भी था उनसे और हमको पूछनेका हक भी है थोड़ा। तो बोले बस वहाँ हरियाली ही हरियाली है। वहाँ बरफ ही बरफ है। शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलती रहती है। मैंने पूछा—जरा भीतर वाली बात बताओ सब बाहर वाली ही मत बताओ, स्वामीजी कहें 'वे शिखर चमचम चमकें जब सूरजकी किरण पड़ती है तो वो सुनहले शिखर चमकते हैं मालूम पड़ता है कि सोनेका शिखर है, चाँदीका शिखर

है। सचमुच मालूम पड़ता है। वह तो हम एक ही दो दिनमें देखकर आते हैं। वह तो हमको मालूम है। मैंने कहा नहीं जरा कुछ अध्यात्म अधिष्ठानकी चर्चा भी करो। तो बोले कि बस बस वहाँ तो सांस गिर जाती है। वहाँ तो श्वासका चलना मालूम ही नहीं पड़ता। अब हम यह सोचने लगे कि यह दो वर्ष तो रहे वहाँ और यह शीतल मन्द सुगन्ध वायु जो है....' तो असलमें अपना जो काम है वह तो आत्माका साक्षात्कार यह नहीं है। यह शाङ्कर वेदान्तकी चीज नहीं है। न आत्मसाक्षात्कार और न वेदान्तका सिद्धान्त है। वेदान्तका सिद्धान्त है आत्माके ब्रह्मत्वका साक्षात्कार करना। देखो! इस बातमें बहुत फर्क होता है। यह आत्मदर्शन हो गया, असंग हो गये, साक्षी तो हो गये, अपने स्वरूपमें बैठ गये। यह सब तुम्हारा असंग साक्षी स्वरूपमें बैठना सब एक मांसके लोथड़ेके भीतर एक वृत्ति नामकी माया है, जादूका खेल है। उसी वृत्तिमें सबका सब भासता है। वह बिलकुल मांसके लोथड़ेमें ही है। इसके बाहर इसका कोई अस्तित्व नहीं है। वह व्यक्ति ही है और व्यक्तिमें बँधा असंग है। अभी हम जीवन्मुक्तिकी तो चर्चा ही नहीं करते हैं। यह जीवन्मुक्ति है, संन्यासी है, महात्मा है, असंग है, साक्षी है, द्रष्टा है यह देहके घेरेमें विशेष बात है।

तो इस बातको बहुत कम लोग समझते हैं, इसीको जब मैं कहता हूँ कि ये मौसमी भगवान् लोग जो हैं; किसी-किसीको बुरा लगता है।

मौसमी भगवान् लोग जो हैं ये आत्माका साक्षात्कार भले करा देते हों; परन्तु आत्माके ब्रह्मत्वका जो साक्षात्कार है यह उपनिषद्का मूल सिद्धान्त है। और उसमें ब्रह्म सब है यह वह सिद्धान्त नहीं है। ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है यह सिद्धान्त है।

स एव सर्वं परमार्थरूपा या।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

इस पर बड़ा भारी विचार है। वासुदेवः सर्वम्में समानाधिकरण है माने जो वासुदेव है सो सब है, जो सब है सो वासुदेव है। यह तो कहते हैं वासुदेव ही सब है। तो यहाँ एक विभक्ति दो पदोंका प्रयोग है, इसीको सामानाधिकरण बोलते हैं। एक विभक्ति दो पदोंका प्रयोग हो तो उसको

समानाधिकरण होनेके कारण सामानाधिकरण बोलते हैं। जैसे घट: मृत्तिका। तो घट: मृत्तिका एव, मृत्तिका घट एव; एक विभक्तिका प्रयोग करते हैं।

अब इसमें मूल बात यह आयी कि क्या यहाँ जो है वह शरीर शरीरी भावसे सामानाधिकरण है? जैसे अयं ब्राह्मण:—ये ब्राह्मण हैं। अथवा विशेष्य विशेषण भावसे है कि कार्य कारण भावसे है कि भ्रमकालमें है? अयं पुरुष:, अयं चौर:, अयं पिशाच:—तो भ्रम कालमें हम स्थाणु और पिशाचको एक बोलते हैं। तो वहाँ भी सामानाधिकरण है और शरीर शरीरीभावमें भी सामानाधिकरण है और कार्य कारण भावमें भी सामानाधिकरण है और भ्रम निवृत्ति कालमें भी सामानाधि-करण है, भ्रम निर्वतक भास्यके द्वारा। तो, वासुदेव: सर्वम्‌में कौनसा है? यह प्रश्न होता है। शरीर शरीरी भावसे वासुदेव सर्व है कि विशेषण विशेष्य भावसे वासुदेव सर्व है कि भ्रमसे वासुदेव सर्व है कि वासुदेवकी अद्वितीयताके बोधसे सर्वका बाध होकर बाधकालमें एकत्व है यह प्रश्न उठता है। यहाँ वासुदेव शब्दका क्या अर्थ है? तो भगवान् भ्रमका तो उपदेश ही नहीं करते। भगवान् श्रीकृष्ण जब वासुदेव: सर्वम् कहेंगे तो अर्जुनको कोई भ्रान्त तो बनाना नहीं है। अब रह गया शरीर शरीरी भाव, कार्यकारण भाव और बाध भाव; तो इनमें-से कौन सा ठीक रहेगा यह एक विचार उपस्थित होता है।

तो यह कृष्ण भगवान् तो महाराज बड़े चण्ट हैं, एक दम चण्ट हैं। वह जबसे ब्रजमें रहे ना ग्वारियोंके बीचमें तबसे बातचीत करनेका ढंग उनका ऐसा हो गया आप देख लो, कोई कह दे कि इसमें चण्टपना नहीं है—मत्स्थानि सर्वभूतानि पश्य मे, योगमैश्वरम् न च मत्स्थानि भूतानि, मत्स्थानि सर्वभूतानि।

मालूम होता है कार्यकारण भावका वर्णन है, यह अद्वैत मालूम पड़ता है। अच्छा! 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' यह देखो आधार आधेय भाव आश्रय आश्रयी भाव तो बिलकुल है। 'न चाहं' कहकर एक चुटकी बजा दी। अन्वय नहीं है व्यतिरेक ही व्यतिरेक है, 'न चाहं तेष्ववस्थित:' और 'न च मत्स्थानि भूतानि' बोलकर बाध कर दिया। तो 'पश्य मे

योगमैश्वरम्' में 'मम योगं ऐश्वरं पश्य मया सर्वम् पश्य मत्स्थानि सर्वभूतानि पश्य, न च पश्य।'

यह क्या हुआ? 'खोल दे पलक, देख ले झलक पलकमें खलक।' यही तो हुआ ना। किसीने कहा हमको नहला दिखाओ, किसीने कहा दहला, किसीने इक्का, किसीने कहा बेगम, किसीने कहा गुलाम तो एक ताशका पत्ता दिखा दिया कि देख ले यह क्या है कि इक्का है, नहला है, दहला है, यह बेगम है, बादशाह है, देख ले जादूका खेल 'पश्य मे योगमैश्वरम्' तो इसीका नाम ऐश्वर्य हो गया।

व्याख्यान लोग बड़े व्यवस्थित ढंगसे देते हैं पर हम आपको व्यवस्थित ढंगसे व्याख्यान नहीं जैसे बीच-बीचमें चूर्ण-चटनी परसते हैं वैसे हम चूर्ण-चटनी परसते हैं।

एक थे साधक। वह महाराजजीसे बहुत कहते थे कि मैं आपसे एकान्तमें बात करना चाहता हूँ। ऊपर, फाटक वाली छतके ऊपर ले गये महाराजजीको बात करनेके लिए। हमारे मनमें आता था कि ऐसी कौन-सी एकान्तकी बात है जिसके लिए ये दिनभर महाराजजीको परेशान करते हैं। तो बात ठीक थी एकान्तमें ही करने लायक थी; लेकिन मैं आप सब लोगोंके सामने करता हूँ। उन साधकका नाम बतानेकी तो जरूरत नहीं है और वैसी समस्या अगर किसीके जीवनमें हो तो वह उत्तर बहुत फायदेका होगा, उन्होंने कहा कि—'महाराज, हमको दो दिनमें, तीन दिनमें, चार दिनमें स्वप्न-दोष हो जाता है और इससे हमारे मनमें बड़ी ग्लानि रहती है। और साधनामें रुचि नहीं होती है साधनाका आनन्द नहीं आता' अच्छे थे भलेमानुस थे, यह तो था उनका प्रश्न, जिसके लिए वे महाराजको एकान्तमें ले गये। और महाराज क्या बोले कि—'देख बेटा डॉक्टरोंके वैद्योंके चक्करमें कभी मत पड़ना। जब घड़ेमें पानी भर जाता है तब वह छलक जाता है। जैसे शरीरमें-से पेशाबका पानी निकलता है वैसे ही वीर्य निकलता है। तू इसके लिए अपने मनमें ग्लानि मत रख। भगवान्‌का नाम लेता जा, भगवान्‌की प्रार्थना करता जा, विश्वास रख, जब भगवान् समझेंगे ठीक; तब ठीक करेंगे।' उन्होंने कहा कि यह तो शरीरका पानी है

इसको तू इतनी कीमत क्यों देता है ? शरीरका पानी है छलक जाता है। इसके लिए रोनेकी क्या जरूरत है ?

हम बड़े विश्वासके साथ आपको यह बात कहते हैं कि अभी तक ये लोग होम्योंपैथी, ऐलोपैथी, आयुर्वेदिक, बायोकैमिक जो चिकित्साएँ होती हैं उनमें केवल रोगियोंका कालक्षेपन ही किया जाता है स्वप्न-दोषको रोक देनेकी कोई खास दवा नहीं है और अबसे तीस-पैंतीस वर्ष पहले मैंने महाराजजीके मुँहसे यह बात सुनी थी, और हम समझते हैं जिसके मनमें इसकी ग्लानि हो वह इधर ध्यान न देकरके, अपना ध्यान भगवान्‌की ओर लगावे, उसका सब बिल्कुल ठीक हो जायगा। अभी देखो यह तो कामकी बात हो गयी। लेकिन यह पानी सरीखा ही है घड़ा भर जाता है तो छलक जाता है, यह बात उनके मुँहसे उस समय सुनकर हमको जितना अचरज हुआ था उतना अब भी है।

अच्छा! एक और साधन सम्बन्धी बात आपको सुना दें। मैंने पूछा महाराजजी ये सब निरन्तर-निरन्तर स्मरण बोलते हैं। अब हमारे तो घटकी याद आती है तो घटाकार वृत्ति होती है, पटकी याद आती है तो पटाकार वृत्ति होती है, यह भगवान्‌का निरन्तर स्मरण कैसे होता है, यह तो होता नहीं इसके लिए जीवनमें बड़ा दु:ख है। अरे! हम तो पाँच मिनट भगवान्‌का स्मरण नहीं कर सकते आप लोगोंकी निरन्तर वाली बात हम नहीं जानते हैं। अब जो लोग निष्काम भावसे ब्लैकमार्कीट करते हैं उनकी भगवान् जानें, और जो लोग निष्काम भावसे पलटनकी पलटन पैदा करते जा रहे हैं उनकी निष्कामता भी भगवान् समझें; पर यह निरन्तर स्मरण क्या होता है यह क्या बला है ? हम तो पाँच मिनट लगातार भगवान्‌का स्मरण करना चाहें तो नहीं होता।

तो, बाबाने एक बात सुनायी। बोले कि—'देखो एक बार जिन्दगीमें अगर किसी बड़े आदमीसे हाथ मिला लेते हैं तो जिन्दगी भर उसका गौरव रहता है कि कभी उससे हमने हाथ मिलाया हैं। और अपनेमें बड़ी सन्तोषकी वृत्ति बनी रहती है। तो यदि शाम-सुबह भी एकाध बार प्रेमसे और पाणिनिपीडन पूर्वक जरा दबाके भगवान्‌को भी लगे कि किसीने

हमारा हाथ दबाया है और हमको भी लगे कि किसीने हमारा हाथ दबाया है। यदि एक सेंकेंड भी यह अनुभव हो जाय कि आज उठके हमने भगवान्से हाथ मिला लिया तो चौबीस घण्टे स्मरण करनेकी कोई जरूरत नहीं।' अब भगवान् दिन-रातमें सोते हों तब भी डिस्टर्ब करो, खाते हों तब भी डिस्टर्ब करो, वो नित्य निकुञ्जमें विहार करते हों तब भी चिल्लाना शुरू कर दो कि हाय राम! हाय राम!! तो उनके मजामें बाधक क्यों बनते हो! देखो मैं यह हँसीकी बात नहीं करता हूँ।

हमारे गाँवके पास एक ठाकुर साहब थे। अगर उधरके लोग यहाँ होंगे तो उनको जानते होंगे। उनका नाम था ठाकुर जुगल किशोरजी, जब सम्राट जार्ज पंचम आये थे भारतवर्षमें और उनका दरबार हुआ था दिल्लीमें तब उनको बुलाया गया था। और स्वयं सम्राट पंचम जार्जने उनसे हाथ मिलाया था। अब हमारे बचपनमें वह बुड्ढे थे। हम जवान वह बुड्ढे, और वह पलंग पर एक मसनद लगाकर लेटे रहते और गुड़गुड़ी उनकी हर समय मुँहमें और गुड़गुड़ाते रहते और कहते—पण्डितजी हमारे बराबर है कौन? बताओ तो सही। हमसे स्वयं पंचम जार्जसे हाथ मिलाया था। तो हमको यह बात याद आ गयी। जब महाराजजीने कहा ना अरे भाई पाँच मिनट दो मिनट कसके हाथ दबाओ भगवान्का मिला लो हाथ, प्रेम भरी नजरसे उनको देख लो, उनकी छातीसे लग लो, उनको छातीसे लगा लो। और निरन्तर जिनको भगवान्का स्मरण रहता है उनको तो हम बहुत-बहुत धन्य समझते हैं उनका आदर करते हैं वह तो महात्मा नहीं परमात्मा है; पर हमको तो निरन्तर नहीं यह एक मिनट वाली बात बहुत बढ़िया लगती है। तो यह बात जब महाराजजीने सुनायी तो वह निरन्तर वाला जो बोझ था ना दिमाग पर बड़ा भारी, यह लगता था कि हमसे तो कुछ होता ही नहीं है, हमारी तो कुछ साधना ही नहीं है, हमारा तो कुछ भजन ही नहीं है, वह निकल गयी।

अच्छा! अब भजनके सिवाय और कोई बात सुनावें। एक दिन एक आदमीने आकर कहा कि—'महाराज एक आदमी है वह हमसे बड़ी दुश्मनी करता है और हमारी निन्दा करता है, हमको गाली देना चाहता है तो हमको तो ऐसा गुस्सा आता है कि हम उसको मार डालें।'

तो महाराज जी क्या बोलते हैं, पता नहीं वह पहलेसे सोच-समझके रखते थे कि एकाएक कोई बात उनके मुँहसे निकल आती थी यह तो पता नहीं! क्या बोलते हैं कि—'बेटा वह तो छ: महीनेके भीतर ही मर जायेगा तू काहेको मारता है। उसकी हत्याका दोष तू काहेको लेता है वह तो छः महीनेके भीतर मर जायेगा। अच्छा! उसका दुःख तो हो गया कम। और ईश्वर कृपासे वह जो निन्दा करने और गाली देनेवाला आदमी था वह अभी तक जिन्दा है।'

बहुत दिनोंके बाद मैंने पूछा कि यह आपने क्या गप हाँक दिया? तो बोले कि—'देखो उसका जो क्रोध था, दुःख था, हिंसाकी वृत्ति थी वह तो उसी समय शान्त हो गयी कि नहीं? हमको तो इतना ही करना था कि वह कहीं कोई अनर्थ न कर बैठे। वह हिंसा न कर दे। तो वह तो ठीक हो गया कि नहीं?' 'हाँ वह तो ठीक हो गया।' 'महात्माओंकी युक्ति'—इसीका नाम होता है।

अच्छा! महाराज! एक बात और सुनावें आपको। एक बार मैं चला गया उत्तर काशी, एक महीना वहाँ रह गया। रह गया तो हमारे जो सिन्धी साईं थे—श्रीभक्त कोकिलजी महाराज, वह महाराजके पास आये और बोले कि—'स्वामीजी नहीं आये तो आप एक चिट्ठी लिखवा दीजिये कि वह आ जायँ।' महाराज क्या बोलते हैं कि मैं ईश्वरको भी चिट्ठी नहीं लिखवाता हूँ कि आ जाय, उसका मन हो तो आ जाय। ऐसा महाराज निःस्पृह और दो टूक जीवन था बिलकुल।

उनके प्रश्न-उत्तरकी बात आपको सुनावें! किस्म-किस्मकी बात हो तो वह अच्छी रहती है। एक बार केला जी ले गये थे अतरौलीसे आगे हरदुआगंज, वहाँ इनकी कोठी थी। रामघाटसे लौट रहे थे तो वहाँ ठहरे। जब सत्सङ्ग होने लगा तो बाबू रामसहायजीने कहा कि महाराज यह वैराग्य करना तो बड़ा कठिन काम है। जीव बेचारा अल्पज्ञ है, अल्प शक्ति है इसके किये तो वैराग्य नहीं हो सकता। जीव तो महाराज वैराग्य नहीं कर सकता, उन्होंने थोड़ेमें कहा था, मैंने जरा बढ़ा दिया।

तो बाबा क्या बोलते हैं कि 'बाबूजी अब ईश्वर वैराग्य किया

करेगा।' तो देखो इसका क्या अर्थ हुआ कि वैराग्य करना जीवका धर्म है, ईश्वरका धर्म नहीं है। यह जो शास्त्रोंमें वैराग्यका वर्णन है वह जीवके करनेके लिए है, ईश्वरके करनेके लिए नहीं है। बाबा बोले—'हाँ बाबूजी! अब जीव वैराग्य नहीं किया करेगा अब ईश्वर ही किया करेगा।'

उनकी उत्तर देनेकी शैली जो थी वह अद्वितीय थी। किसीने कहा—महाराजजी यह जो सृष्टि है यह ईश्वरने ही बनायी है ना? इसमें क्या प्रमाण है कि ईश्वरने सृष्टि बनायी है। बाबा बोले—हाँ बेटा! ईश्वरने नहीं बनायी है तुम्हारे चच्चाने बनायी है। क्या राय है आपकी? कोई दावा कर सकता है कि हमारे चच्चाकी ही बनायी हुई है। अरे भाई! ईश्वरके सिवाय दूसरा कोई इस सृष्टिको इतनी व्यवस्थित रीतिसे बना ही नहीं सकता है। तो ईश्वरने नहीं बनायी है तो तुम्हारे चच्चाने बनायी है, किसने बनायी है लो, नाम लो उसका, भूतने बनायी है, प्रेतने बनायी है, पिशाचने बनायी है; अगर ईश्वरने सृष्टि नहीं बनायी है तो किसने बनायी है?

अच्छा भाई! अब एकाध बात वेदान्तकी भी सुना दें। एकदिन किसीने पूछा कि 'महाराज भक्ति बड़ी है कि ज्ञान बड़ा है?' ऐसे लोग पूछते हैं ना, तो भक्ति वाले कहते हैं भक्ति बड़ी है, ज्ञान वाले कहते हैं ज्ञान बड़ा है। यह तो बड़ी साधारण बात हो गयी ना कि अपने अपने पक्षको पुष्ट किया जाय। तो बाबा क्या बोलते हैं कि, 'बेटा, बड़ी तो भक्ति ही है। भक्तिसे बड़ी और चीज कोई नहीं।' तो फिर दूसरेने पूछा कि महाराज फिर ज्ञान क्या है जब भक्ति बड़ी है।

तो बोले कि 'ज्ञान वह है जिसमें छोटे-बड़ेका भेद नहीं होता' ठीक उत्तर है ना!

अच्छा! बाबा गंगा किनारे विचरते थे, यह उन्हींकी सुनायी हुई बात है। एक ऐसा आर्यसमाजियोंका गाँव था कि जहाँ कोई साधु आवे तो उसकी परीक्षा पहले लेते थे, फिर भिक्षा देते थे। तो महाराजजी भी उसी गाँवमें पहुँच गये। पहुँच गये तो लोगोंने घेर लिया बोले यह बताओ स्वामीजी कि गृहस्थ बड़ा है कि संन्यासी? अब साधु क्या जवाब देगा आप जानते ही हैं। अगर वह साधु होनेको बड़ा न मानता तो घर-द्वार

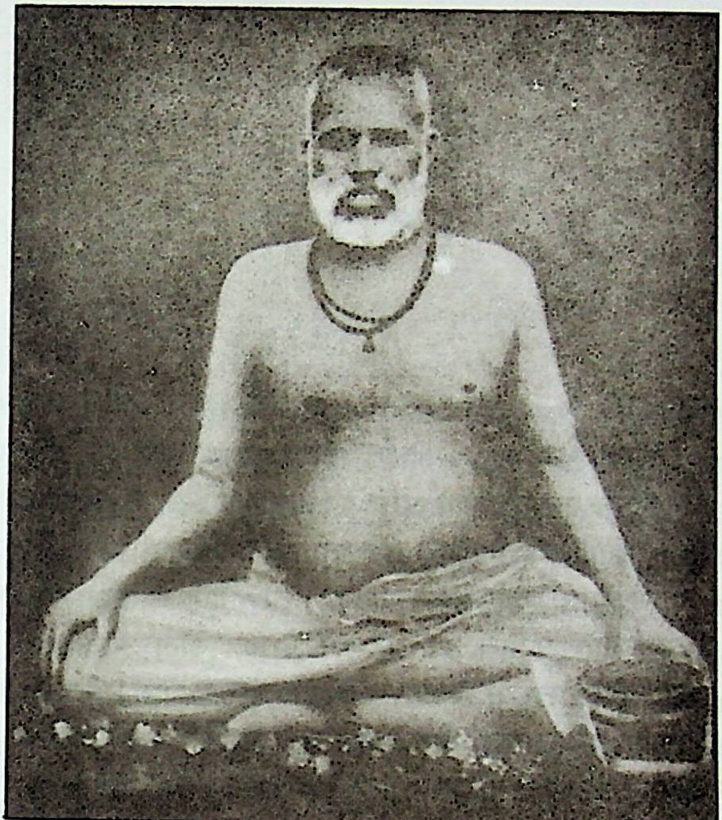
काहेको छोड़ता, तो बाबा क्या बोलते हैं कि 'भैय्या बड़ा तो गृहस्थ ही है, अरे गृहस्थ बड़ा न होता तो उसके घर हम रोटी माँगने कैसे आते? गृहस्थके घरमें हम पैदा हुए। अब गृहस्थके घरसे हम रोटी माँगके खाते हैं, वह तो हमारा सहारा है, गृहस्थके आश्रयसे जिन्दा रहते हैं—मनुस्मृतिमें ऐसा लिखा है।' तो लोगोंने कहा भाई यह तो बहुत बढ़िया साधु है—गृहस्थोंको बड़ा बताता है। तो खूब अच्छी तरहसे तो भिक्षा करायी और बोले कि महाराज अब कुछ दिन यहाँ रह जाओ। तो जम गये महाराज! जब जम गये तो लोग सत्सङ्ग करनेके लिए आने लगे, आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है और निराकार क्या है? साकार क्या है? अब तो पन्द्रह-बीस दिन वहाँ रहनेके बाद महाराजजीने स्वयं ही उन लोगोंसे पूछ लिया कि 'भाई तुम लोगोंका ख्याल क्या है गृहस्थ बड़ा होता है कि साधु? बोले आप।' तो सारा गाँव तो दण्डवत करने लगा, सारा गाँव साधुको मानने लगा। अगर वह पहले ही दिन कह देते कि साधु बड़ा होता है तो वहाँसे भूखे ही जाना पड़ता।

अच्छा! एक दिन एक भक्त और एक पण्डितका कुछ शास्त्रार्थ हो गया। तो पण्डितका कहना था ऐसा करना, ऐसा करना यह श्रेष्ठ है और भक्तका कहना था कि भगवान्‌की भक्ति ऐसे करना, ऐसे करना श्रेष्ठ है। तो जब दोनोंमें शास्त्रार्थ हो गया तो भक्तको थोड़ा दुःख हुआ वह महाराजजीके पास आया और बोला कि महाराजजी आपका इसके सम्बन्धमें क्या निर्णय है? पण्डितजी तो बड़ा जोर देते हैं। तो बोले कि देखो बेटा पण्डितजी जो कहते हैं सो ठीक है। भक्तको कभी आग्रह नहीं करना चाहिए कि हमारी बात ठीक है और पण्डितकी गलत है। भक्तका काम जो है वह पण्डितकी बातको काटना नहीं है। पण्डितका आदर करना भक्तका काम है। उसमें भगवान्‌को देखो उसका आदर करो और खूब प्रेमसे निष्ठाके साथ भगवान्‌के नामका जप करते जाओ।

अब आपको क्या कहें कभी-कभी ऐसी भी तो बात होती है न कि लोग कहते हैं, महाराजजीके बड़े-बड़े भक्त हैं। यहाँ हमारे देखनेमें साधारण लोग हैं पर हमारा ख्याल है वह किसी महात्मासे मनोवृत्तिमें कम

नहीं। यहाँ एक सज्जन हैं। वह महाराजजीकी सेवामें कोई पैंतीस-चालीस वर्ष रहे हैं। माँगके रोटी खा लेते हैं और किसीका भी बोझ उठाकर स्टेशन पहुँचा आवें, लेते नहीं हैं किसीसे कुछ। अब तो शायद आश्रममें खाते हैं, पहले तो रोटी माँगके खाते थे। एक बात उनके मनमें आयी, हमारे लिए, कि हम स्वामीजीको कुछ दें। तो जाकर, कहीं मकान बन रहा था उसमें कई दिन तक गिट्टी तोड़ी। गिट्टी तोड़कर जब उससे पैसा इकट्ठा हुआ तो एक पीतलकी बाल्टी खरीदके मेरे लिए ले आये। बड़े विरक्त सज्जन हैं। वह थोड़े समझते हैं कि हम विरक्त हैं। उनको तो मालूम ही नहीं कि विरक्त माने क्या होता है। सो उन्होंने एक महात्माका, दण्डी स्वामीका कुछ तिरस्कार कर दिया होगा, हो गया होगा। हम यह भी नहीं मानते कि जानबूझके किया होगा या उसके मनमें यह होगा कि इसकी वजहसे महाराजजीको कोई तकलीफ पहुँचती है तो कुछ कह दिया होगा। तो महात्माजीने जाकर महाराजजीसे कहा कि इसने हमको ऐसा-ऐसा किया है और हमारा तिरस्कार किया है। तो महाराजजीने बुलाया उसे, वह यहीं है। बुलाया और एक हाथ पकड़ लिया और लेकर छड़ी हाथमें उसको मारने लगे। अब महाराज जिस समय वह छड़ी लगी उसके शरीरमें ऐसा वह नाचने लगा आनन्दमें भर करके, उसने कहा जो प्रसाद दुनियामें कभी किसीको नहीं मिला होगा वह हमको मिल रहा है। भला महाराजजीने भी कभी किसीको मारा है? भला महाराजजी भी कभी किसीको मार सकते हैं। यह तो कल्पना ही नहीं है। हमको कितना अपना समझते हैं। वह इतना खुश हुआ और खुश होकर नाचने लगा। बादमें फिर वह विरक्त, महात्माजीके पास पहुँच गया। बोला कि स्वामीजी अब रोज मैं आपको वही बात कहूँगा। बस हमको तो यही दण्ड मिलना चाहिए।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!



माया छाया वराकी कथमिवलभतां मय्यनन्ते प्रतिष्ठा-
मस्थाने चेश्वरत्वं द्रुहिणहरिहरा हन्त वह्नेः स्फुलिङ्गाः।
अद्वैते द्वैतखेला गगननलिनवत् स्वप्नवज्जीवमेला,
श्रीपूर्णानन्दवाणी श्रुतिशिखरसुधास्वर्णदी नः पुनातु॥

भक्ति श्रद्धैकमूला विरहितविषया बोधमूलं विरक्ति-
र्दिध्यासा लक्षितेऽर्थे श्रवणमननजा सम्प्रसूते समाधिम्।
ज्ञानाभ्यासप्रधाना घनरतिरुदिता हन्त्यविद्यामवद्यां,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थे वचसि वयममी निर्भरं मज्जिताः स्मः॥

(5)

'तुच्छ माया छाया मात्र है। वह मुझ अनन्तमें स्थान कैसे पा सकती है? ईश्वरता भी किसकी? कैसे? राम-राम! ब्रह्मा-विष्णु-महेश तो मुझमें आगकी चिन्गारीके समान हैं। अद्वैतमें द्वैतका खेल आकाशमें कमलके खेल-सा है और जीवोंका मेल स्वप्न सा।' यह है श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी वाणी। यह श्रुतिशिखर अर्थात् वेदके शिरोभाग वेदान्तकी सुधागंगा है। यह हमें पवित्र करे॥

'भक्तिका एकमात्र कारण है श्रद्धा। ब्रह्मबोधका साधन है वैराग्य। सम्पूर्ण-विषयोंमें अरुचि वैराग्य है। श्रवण-मननजन्य निदिध्यासन लक्ष्यार्थमें समाधिको जन्म देता है। ज्ञानाभ्यासप्रधान घनरति उदित होकर भेदजननी अविद्याका नाश कर देती है।' यह हैं श्रीपूर्णानन्दतीर्थके वचन जो स्वयं तीर्थ हैं। अब हम निश्चिन्त होकर इसमें मग्न हो चुके हैं॥

(5)

जब हम मैं-से एक होकर बैठ जाते हैं तब मरना हमारे लिए अस्वाभाविक है। एक अस्वाभाविक स्थिति हमारे जीवनमें आनेकी कल्पना बन जाती है और उससे डर लगने लगता है। यदि देहमें मैं न जुड़े तो मरनेका डर कभी नहीं लग सकता। यह केवल देहमें मैं जुड़नेसे ही मृत्युका भय लगता है। एक ही कारण है इसका दूसरा कोई कारण नहीं।

निवारण यह है कि या तो मरनेके बादकी जो स्थितियाँ हैं—अगला जन्म है, नरक है, स्वर्ग है—उनके प्रति ज्यादा जोर आ जाय कि हम मरनेके बाद भी रहेंगे और या तो मरनेके बाद भगवान्‌के धाममें जायेंगे, गोलोकमें जायेंगे या मरने वाली चीज जो है वह बिलकुल झूठी है। न किसीका जन्म हुआ है, न मरण हुआ है। तो धर्म, स्वर्ग आदिके रूपमें; हमको मरनेसे बचाता है और सुख देता है। और उपासना जो भगवान्‌की है वह भगवान्‌के धाममें पहुँचनेकी आशा दे देती है, तब भी मृत्युसे डर नहीं लगता। जैसे बच्चेको कह दें कि तुम्हारी यह पोशाक उतारके और बढ़िया वाली, लालवाली फ्राक पहनावेंगे तो वह पहली पोशाक उतारनेसे रोता नहीं—ऐसा होता है। और या तो फिर अपने आपमें ऐसे शान्त बैठ जाय कि देहका भान ही न हो तो इसका नाम योग होता है। और मौत न आत्माकी है न अनात्माकी है 'नासतो विद्यते......'

असतो भावो तदुपलक्षितः अभावश्च न विद्यते।

जो है उसका जीना-मरना नहीं और जो नहीं है उसका भी जीना-मरना नहीं, यह जो श्लोक है उसका यह अर्थ है। जो है ही नहीं उसका जन्म नहीं, भाव माने जन्म और जिसका जन्म नहीं होता उसकी मृत्यु भी नहीं होती। तो बन्ध्यापुत्रका न जन्म है—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' सत् है आत्मा, उसका अभाव नहीं है, मृत्यु नहीं है। मृत्यु नहीं है अर्थात् जन्म भी नहीं है। तो न सत्यका जन्म- मरण है न असत्यका जन्म-मरण है। तो जन्म-मरण किसका है? बोले मिथ्याका ही जन्म है और मिथ्याका ही मरण है; मिथ्याका ही बन्धन है मिथ्याकी ही मुक्ति है। न सत्यका जन्म-मरण बन्धन-मुक्ति है न असत्यकी।

'उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः'

जो लोग व्यक्तिवेदी हैं, व्यक्तिविद्, आकार वेदी हैं, नामवेदी हैं वे तो इस बातको नहीं जानते। लेकिन तत्त्व उसको कहते हैं—आकारके आरोप से रहित जो वस्तुका स्वरूप है। एक सेरका घड़ा है तो उसमें सेर भर तो माटी है। घड़ा नहीं तो शक्ल-सूरतको छोड़कर वह जो सेर भर माटी है उसमें न घड़ा बनता है, न फूटता है। न वह बनती है न फूटती है। तो आकारके आरोपसे विनिर्मुक्त जो तत्त्व है उसमें न जन्म है, न मरण है। तो जिन लोगोंने आकारको पहचाना वे तो जन्म-मरणसे विनिर्मुक्त नहीं हुए। पर जिन्होंने तत्त्वको पहचाना उन्होंने दोनोंका—जन्म-मरणका भाव-अभावका जो अन्त है असली सिद्धान्त है उसको देख लिया।

डर लगना भी स्वाभाविक है और जबतक शरीर रहता है तबतक किसीको थोड़ेमें किसीको बहुत ज्यादा, कोई चूहा देखके डर जायगा और कोई शेर देखके डरेगा, पर डरेंगे दोनों। तो जबतक शरीर रहेगा तबतक उसके साथ डर भी थोड़ा-थोड़ा लगा रहेगा। जीवन रहते, व्यक्ति बिलकुल निडर कभी नहीं होगा। कोई दुराचारसे डरेगा तो कोई दुर्भावसे डरेगा। कोई दुर्गुणसे डरेगा तो कोई विस्मृतिसे डरेगा। केवल तत्त्व दृष्टिमें डर नहीं है और व्यक्तिके जीवनमें जब तक व्यक्तित्व है तबतक तो उसके साथ डर रहेगा। उसमें डींग हाँकनेकी कोई जरूरत नहीं है कि हम साँप

उठाकर गलेमें पहन लेंगे, अरे शेर दिखेगा तो नहीं भागेंगे। एक महात्मा थे गंगोत्रीमें तो उनको सर्दी सहनेकी बड़ी भारी आदत थी। वहाँ बिलकुल नंगे रहते थे। बारहों महीने। जब वह आये हरद्वार तो माघका महीना और तीन चार लोग लेकर पंखा उनको झल रहे। माघका महीना और सब लोग कम्बल ओढ़े हुए और उनको पंखा झला जा रहा है और पसीना हो रहा है। तो एकने कहा यह क्या हुआ? यह—

'शीतोष्णसुख दुःखेषु समः.....'

कैसे हुए? जब इनसे गर्मी बिलकुल नहीं सही जाती, सर्दी सहनेकी आदत उन्होंने डाल ली थी, गर्मीकी बिलकुल आदत नहीं थी। हम लोगोंको गर्मी सहनेकी आदत है, सर्दी सहनेकी नहीं; तो वह हमसे अच्छे कैसे हुए? तो एक चीज ऐसी है जो उनमें भी है हममें भी है—वही सबसे अच्छी है और गर्मी सहनेवाले हम अच्छे नहीं है, सर्दी सहनेवाले यह अच्छे नहीं हैं—इन दोनोंमें एक चीज है जो सबसे अच्छी है और वही निडर होती है और कोई निडर नहीं।

× × ×

प्रश्नोत्तर—उसमें सब शब्दोंके साथ एक ऐसा जुड़ता है कि अव्ययका अर्थ अतिभयं जो है ना उसका निषेध है। अव्ययंका अर्थ है अनतिभय। दैवी सम्पत्ति वाला पुरुष आसुरी सम्पत्ति जीवनमें न आ जाय इसके लिए डरेगा। नहीं तो उसको दैवी सम्पत्ति बनेगी ही नहीं। नाति मानितामें जो अन्तिम शब्द है उसका अन्वय है सब जगह, सब दिन है। एक दिन यज्ञ हो रहा था तो करपात्रीजी महाराजको लोग बुलाकर ले आये। न तो यजमान उठा यज्ञशालामें, न तो पुरोहित लोग उठे। तो करपात्रीजी महाराजने कहा—जरा गंगाजी चलते हैं। यज्ञशालाको छोड़कर चले गये। और जाकर आचमन करके बैठ गये। तो भक्तोंने कहा—महाराज! जरा यज्ञशालामें तो चलिये। तो बोले—ठहरो! ऐसे नहीं जाते हैं जबतक यजमान या ऋत्विक उठकर बुलावे नहीं तबतक कैसे यज्ञशालामें जावेंगे? तो एकने प्रश्न कर दिया कि यह तो मानिता हुई।

बोले—मानिता नहीं हुई, दैवी सम्पत्तिमें अतिमानिता निषिद्ध है। अतिमान नहीं करना चाहिए जो शास्त्रोक्त मान है वह तो रहना ही चाहिए। अब कोई गधा समझकर बोझ लादना चाहे आपके ऊपर तो थोड़े ही लादने देना चाहिए। अरे इतना मान लेंगे भाई कि पाँव न छूए दूरसे हाथ जोड़ दे और जो बिलकुल छाती तानके चलेगा तो हमको जरूरत क्या है उससे बात करने की ? तो यह दैवी सम्पत्तिके जितने सद्‌गुण हैं वह एक मर्यादामें ही होते हैं मर्यादाका उल्लंघन करके नहीं।

प्रश्नोत्तर—यह भेद जो है स्वामीजी, भेद शब्दका संस्कृतमें अर्थ है फूटना। भेदन माने फोड़ना, और भेद माने फूटना, और भिन्न माने फूटा हुआ। और भेदक माने फोड़ने वाला, भेद्य जो फोड़ा जाय सो भेद्य। हम इसलिए इसका इतना विस्तार कर देते हैं कि भेद शब्दमें फिर बिलकुल जिस अर्थमें फूटना शब्द है। अलगाव उसी अर्थमें संस्कृतमें भेद शब्द बोलते हैं, अच्छा अब भेदके लिए यह आवश्यक होता है कि भेदका प्रकाशक भेद से न्यारा होना चाहिए। जब कोई दो चीज होगी तो उसको देखनेवाला एक होना चाहिए और भेदको अधिष्ठान भी जरूर चाहिए। माने जब अलग-अलग दो चीजें हैं तो अपनेसे बड़ी किसी एक चीजमें उनका होना जरूरी है। इसीको अधिष्ठान बोलते हैं। दोनोंसे अधिक जब स्थान होगा तब दो होते हैं। और वह किसी-न-किसीके द्वारा देखे जायेंगे। यदि किसीको ज्ञात नहीं होते हैं तो वह हैं ही नहीं, और तीसरी बात भी हुई कि वह किसी-न-किसीको प्रिय- अप्रिय भी होंगे। ममतास्पद होंगे या द्वेषास्पद होंगे; या अहंतास्पद होंगे। कोई-कोई उससे तादात्म्य कर लेंगे।

'मैं मरि जइहौं तोहें न भजइहौं।

यह हमारे गाँवमें ऐसे बोलते हैं। एक कंजूस था। वह हाथमें रुपया लेकर भुनाने चला। तो गरमीका दिन था पसीज गया हाथ। तो देखा उसने अरे यह रुपया तो रो रहा है। तो बोला कि 'मैं मरि जइहौं तोहे न भजइहौं।'

कंजूस आदमीका पैसेसे भी तादात्म्य हो जाता है। और स्त्रीसे भी

होता है पुत्रसे भी होता है। हमने अपनी आँखसे देखा था—इक्कीसमें जब भूकम्प आया तो सब लोग घरमें-से निकल गये। हमारी एक भाभी हैं वह घरसे नहीं निकली। वह बोली कि मैं आजतक जबसे इस घरमें आयी हूँ तबसे मैंने कभी घरसे बाहर पाँव नहीं रखा तो भले यह घर गिर जाय, मैं मर जाऊँ मैं बाहर पाँव रखनेवाली नहीं हूँ। तो नहीं निकलीं; पर मरी नहीं। ईश्वर कृपासे दूसरा घर गिर गया वह जिसमें थीं वह बच गया।

प्रश्न—गाँवमें थीं वह तो दिशा-मैदान बाहर ही जाती होंगी?

उत्तर—नहीं भाई दिनमें भागना घरमें-से उनको स्वीकार नहीं था, पुरुष सामने खड़े देखेंगे हमको यह उनको था। वह तो अब भी इतना घूँघट काढ़ती हैं, पचहत्तर वर्षकी उम्र है अब और घूंघट ऐसा काढ़ती हैं कि जिसकी कोई हद नहीं।

× × ×

महाराजजीके भक्त हैं श्रीभगवत्दासजी, यहाँ विद्यमान हैं आश्रमके ट्रस्टी हैं। और प्रारम्भसे ही महाराजजीकी सेवा बड़े प्रेमसे करते हैं। आज वह सुना रहे थे हमको, एकदिन कोई मुसलमान सज्जन महाराजजीके पास आये। तो उन्होंने जिस भाषामें सुनाया वह तो मैं नहीं सुना सकता। क्योंकि वह तो बहुत हसीन उर्दू जैसे मुसलमान लोग बोलते हैं ना उस भाषामें सुना रहे थे। मुसलमान सज्जनने महाराजजीसे कहा कि 'आप तो अल्लातालाका कोई पैगाम लेकर आये हैं, आप बताइये ईश्वरने आपको कौन-सा काम सौंपा है? दुनियाका कौन-सा काम करनेके लिए ईश्वरने आपको भेजा है।' ऐसा प्रश्न मुसलमान सज्जनने किया। तो महाराजजीने कहा कि ईश्वरने हमको कोई काम कह कर नहीं भेजा है, मैं जहाँ जाता हूँ, जहाँ रहता हूँ वहाँ ईश्वर हमारे रहनेके लिए बन्दोबस्त करता है। हमारे लिए रोटी भेजता है, हमारे सब रहनेकी, खानेकी, पीनेकी व्यवस्था, ईश्वर ही हमारा सब इन्तजाम करता है, हम ईश्वरकी ओरसे कोई इन्तजाम करनेके लिए नहीं आये।

अब यह बात देखो आप, भक्तिकी तराजू पर तौलो बिलकुल ठीक है। और वेदान्तके तराजूपर तौलो तो बिलकुल ठीक है। ऐसी थी उनकी

वाचोयुक्ति। और केवल वाचोयुक्ति नहीं क्रियाशीलता जो थी न उनकी ऐसी विलक्षण थी!

श्रीप्रबोधानन्दजी महाराजजीके कृपापात्र हैं, बहुत छोटे बच्चे थे जभीसे, बादमें एम.ए. भी हुए, प्रोफेसर भी हुए और दण्डी स्वामी भी हुए, स्वामी प्रबोधानन्द सरस्वती, हमारे गुरु भाई हैं। तो उन्होंने बताया एक दिन मैं यहाँ कुटियामें विश्रामके समय उनके चरणों पर हाथ फिरा रहा था। तो बाहर दो भक्त आपसमें लड़ने लगे तो आवाज आयी, तो महाराजजीने कहा देखो भाई; क्या लड़ाई हो रही है? तो मैंने बाहर निकलकर देखा तो लड़ाई यह थी कि एकका लोटा लेकर कोई दूसरा व्यक्ति शौच चला गया था, आपको शायद यह मालूम नहीं होगा कि इस आश्रमके भीतर शौच-लघुशंकाकी कोई व्यवस्था नहीं थी, आश्रम तो बन गया पर इसमें कोई शौच जाय कि लघुशंका करे इसकी कोई व्यवस्था नहीं थी। हम जब पहले आते थे, सन् अड़तीस-उन्तालीसमें यहाँ जब आया तो यह दरवाजेके ऊपर छत पर जो बरामदा है उसमें रहता था, तो रातके समय जब लघुशंका लगती तो वहाँसे सीढ़ी उतरके और इस दरवाजे पर आकर यह जो धर्मशाला बनी है ना जहाँ औषधालय है वहाँ हम रातको लघुशंका करनेके लिए जाया करते थे, और रातभरमें कभी तीन बार लगे तो तीन बार जाना पड़ता था, अब तो लोगोंने अपनी-अपनी सुविधा कर ली है, हम लोग जब महाराजजीके पास आते थे तो कोई यह नहीं कह सकता था कि हमको कमरा चाहिए। अरे! खजूरकी चटाई मिल जाय और पेड़के नीचे विछाकर सो जाँय वह हमारे लिए बड़ा भारी सौभाग्य था, जब मैं पहले-पहल जाकर सामने खड़ा हुआ और वह रोटी बाँट रहे थे। मैं सामने रोटी लेनेके लिए खड़ा हुआ तो बोले तू पण्डित! तेरी जात बिगाड़ें? कैसे रोटी लेगा मैं तेरी जात बिगाड़ दूँ? मैंने कहा—महाराज! जात तो बिगड़ गयी अब आपके पास आने पर। जात बिगड़ने पर अगर नीचे गिर जाये तब तो नुकसान है और जात बिगड़कर अगर अजात हो जाये, वह तो ऐसा ही है।

तो उन दोनोंमें महाराज यह लड़ाई हो रही थी हमारा लोटा लेकर

शौच गये तो माँजा? उसने कहा 'हाँ माँजा।' तो बोले नहीं हमारे सामने एक बार और माँजो, वह कहता था मैं माँज चुका हूँ अब माँजना हो तो तुम माँज लो दुबारा मैं नहीं माँजूँगा, यह लड़ाई थी, जब महाराजजीको मालूम हुआ तो वह सोतेसे उठकर बाहर निकल आये और बोले तुम दोनों रहने दो, जाओ शान्तिसे बैठो मैं माँज देता हूँ। अब यह देखो, आप सोचोगे एक ओर कि इतने बड़े श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त महात्मा ऐसा लोगोंका विश्वास है। जो महाराजजीके अनन्य भक्त हैं वह उनको जीवन्मुक्त या महात्मा नहीं मानते हैं साक्षात् परमेश्वरका स्वरूप मानते हैं। तो उनकी कम-से-कम यह बात हमको स्वीकार करनी पड़ेगी, ऐसी कोई जाति नहीं है जिसमें मुर्देको नमस्कार न किया जाता हो, यह बात आपको मालूम है। ये जो कम्युनिस्ट लोग हैं ना, रशियन हैं तो जब हमारे देशका या किसी देशका नागरिक जब रूसमें जाता है तो लेनिनकी समाधिका दर्शन करनेके लिए एक-एक मीलकी क्यू लगानी पड़ती है और सिर पर वस्त्र रखकर चुपचाप, बोल नहीं सकते, जैसे हमारे तिरुपति बालाजीमें क्यू लगती है बालाजीके दर्शनके लिए वैसे लेनिनकी कब्रका दर्शन करनेके लिए भी क्यू लगती है, भले उसमें ईश्वरको न मानते हों, परन्तु कब्रकी पूजा है।

आप देखो परोक्ष पर कितनी आस्था होगी उस कम्युनिस्ट देशमें जो लेनिनकी कब्र पर जाते हैं नमस्कार करनेके लिए और मीलोंकी क्यू लगती है। हमारा यह कहना है कि मुर्दा चाहे किसी जातिका हो— ब्राह्मणका, चाहे चाण्डालका, यदि श्मशानमें जा रहा हो तो उसको नमस्कार किया जाता है सिर झुकाया जाता है यह नहीं कि उसमें चाण्डाल भरा है कि ब्राह्मण भरा है। इसका कारण क्या है? इसका कारण है कि उसमें जो अहंभाव था ना, परिच्छिन्न अहंभाव वह तो मुर्देको छोड़कर उड़ गया और जो अपरिच्छिन्न ब्रह्मभाव है वह तो मुर्देमें भी मौजूद है। तो परिच्छिन्न अहंभावसे विमुक्त जो अपरिच्छिन्न ब्रह्मभाव है मुर्देमें सचमुच वह नमस्कार करने योग्य है। और यदि किसी जिन्दा पुरुषमें चलते-फिरते पुरुषमें वह अहंभाव यदि न हो तो वह साक्षात्

परब्रह्म परमात्माका वहाँ तो ईश्वरके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। उसका नाम ईश्वर रखो, परमेश्वर रखो, ब्रह्म रखो, आत्मा रखो, सत्य रखो, परमात्मा रखो, लेकिन जहाँ परिच्छिन्न अहंभाव नहीं है वहाँ तो साक्षात् परमेश्वर है ही है।

हमारे स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती हैं आप जानते हैं आजकल ज्योतिर्मठके जो दो प्रतिद्वन्दी शङ्कराचार्य हैं, दोनों, अब वे हमारा नाम नहीं लेते हैं तो हम काहेको उनका नाम लें। हमको क्या गरज पड़ी है कि हम उनकी वजहसे अपनी महिमा बढ़ाने लगें, वह लोग छः-छः सात-सात वर्ष यहाँ वृन्दावनमें रहे हैं। और जैसे कल चक्रजी कह रहे थे ना कि महाराजजी हमको कभी जानेके लिए टिकट उन्होंने नहीं दिया। तो असलमें जो लोग हमारे सम्पर्कसे यहाँ रहते थे उनको जानेके लिए टिकट महाराजजी नहीं देते थे। स्वरूपानन्दजीको भी नहीं देते थे, शान्तानन्दजीको भी नहीं देते थे, क्योंकि वह तो हमारे ही सम्बन्धसे यहाँ रहते थे, उनको महाराजजी अपनी ओरसे भेज रहे हैं ऐसा कभी प्रकट नहीं करते थे। वहीं महाराजजी ठहरे हुए थे, स्वरूपानन्दजीने पूछा कि महाराज आप कौन हैं? हम लोग बहुत ढिठाईका सवाल करते थे। तो बोले कि तुमको क्या दीखता है? यह देखो प्रश्नका उत्तर, बोले—'महाराज आप ब्रह्म हैं साक्षात्। तो बोले कि तुम ब्रह्मको आँखसे देखकर बोल रहे हो कि आप ब्रह्म है।' तब महाराज आप कौन हैं? कि ईश्वर हैं? बोले ईश्वर सृष्टि स्थिति-प्रलयका कर्ता होता है, तुमने सृष्टि स्थिति-प्रलय करते हुए हमको देखा है? बोले कि महाराज आप जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी हैं? बोले कि जैसे दण्ड हाथमें लेकर दण्डी होता है ऐसे ब्रह्मज्ञानको अपने हृदयमें धारण करके कोई ब्रह्मज्ञानी होता है? ज्ञानका धर्मी होता है कोई? ज्ञानका अभिमानी होता है? यह बात भी कट गयी।

तब बोले महाराज हमारी समझमें तो नहीं आता कि आप कौन हैं? आप ही बता दो। तो, उन्होंने क्या बताया आपको सुनावें, यह हमारे सामनेकी बात है भला! क्योंकि शान्तानन्दजी रामजी ब्रह्मचारीके रूपमें हमारे सेवक थे और स्वरूपानन्दजी महाराज हमारे सेवक नहीं हमारे मित्र

थे, तो महाराजजीने क्या बताया? बोले कि, 'देखो जब आश्रममें झाड़ू नहीं लगी होती है तो मैं उठकर झाड़ू लगाने लगता हूँ, जब बर्तन ठीक नहीं मँजे होते हैं तो मैं ही जाकर माँजने बैठ जाता हूँ, जब कोई भूखा आदमी आता है तो मैं अपने हाथसे उसको रोटी देता हूँ। न किसीने ब्रह्म देखा है, न किसीने ईश्वर देखा है, न किसीने जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी देखा है, मैं हूँ कुछ तो जैसा तुम देखते हो मैं चराचर जगत्का सेवक हूँ। सबकी सेवा।'

मैंने एक दिन पूछा यह काहेको आप रोटी बाँटते रहते हैं दिन भर? ऐसी वेदान्तकी बढ़िया चर्चा छोड़कर मैं गंगोत्री, बद्रीनाथ और इधरका गङ्गाका तट और इधर मथुरा, पंढरपुर, डाकोरजी, द्वारिकाजी सब जगह घूम आया, जो वेदान्तकी बात हमको कहीं सुननेको नहीं मिलती वह आपके मुखसे सुननेको मिलती है, आप दिन भर रोटी काहेको बाँटते हैं? तो क्या बोलते हैं कि देखो रोटी बाँटनेमें दिमाग पर कोई परिश्रम नहीं पड़ता, उठायी रोटी और फेंक दिया लो खाओ रोटी और यह घटाकार-मठाकार और ब्रह्माकारवृत्ति करने वाले लोग, ये रोटी नहीं खाते हैं, दिनभर दिमाग खाते हैं।

देखो! एक बारकी बात है, वैसे महात्मा लोग भी महाराजके पास आते ही थे दर्शन-परसन करनेके लिए, सत्सङ्गके लिए, ऐसे लोग भी आते ही थे कि उनके तख्त पर ही बैठना है और ऐसे भी आते थे कि नीचे ही बैठ जायें पर बाबा नहीं उठते थे, वह बैठे रहते थे, यह उनका स्वभाव था यदि हम कह दें कि आप उठकर खड़े हो जाइये तो उठकर खड़े हो जाते थे।

यह शायद आप लोगोंको मालूम नहीं होगा जब इस आश्रमकी प्रतिष्ठा हुई तो किसी कारणवश खास करके हरिबाबाजी जो कीर्तन करते हैं प्रणवका उस बातको लेकर श्रीकरपात्रीजी महाराज रुष्ट हो गये, रुष्ट हो गये तो बहुत दिनों तक उनका फिर आना-जाना इधर नहीं रहा। पहले तो वह महाराजके पास आते थे, जब ब्रह्मचारी थे। नरवर विद्यालयमें पढ़ते थे तब तो आते थे, सत्सङ्ग करते थे, पर आश्रमके उत्सवके बाद उनका आना

बन्द हो गया, तो एक बार क्या हुआ कि श्रीकरपात्रीजी महाराज धर्मसङ्घ विद्यालयमें, वृन्दावनमें, यहाँ आकर ठहरे तो मैंने उनसे कहा महाराज वह आपसे रुष्ट हैं, हैं तो वे आपके, परन्तु लोकमें उनकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा है, बड़े भारी विद्वान् हैं, त्यागी हैं यह बात कुछ अच्छी नहीं लगती कि वे आपसे रुष्ट रहें और आप उनसे न बोलें। तो बोले—तब क्या कहते हो तुम? मैंने कहा—आप चले चलिये, बोले कि अच्छा चलो और खड़े हो गये उसी समय बिना किसी सूचनाके, जब रमणरेतीमें गये तो मैंने एक आदमीको दौड़ाया कि जाकर करपात्रीजी महाराजसे कहो कि बाबा आपसे मिलनेके लिए आये हैं। अब करपात्रीजी तो बड़ी श्रद्धा, बड़ा प्रेम करते थे; तुरन्त उठकर आये प्रणाम किया, ले जाकर बिठाया, सब स्वागत-सत्कार हुआ फिर उठकर लौट आये, लौट आये तो उसी रात करपात्रीजी आये और यहाँ ऊपरके कमरेमें बैठकर घण्टों तक अनुष्ठानोंके सम्बन्धमें और लक्षचण्डी यज्ञ और कोटि चण्डी यज्ञ सब हो रहा था, इसमें सफलता क्यों नहीं हो रही है और धर्म स्थापन क्यों नहीं हो रहा है? इसके लिए बहुत बातें उन्होंने पूछीं बहुत बातें इन्होंने बतायीं, परन्तु आपको यह बात बताते हैं कि एक ओर तो वह तख्ते परसे उठते नहीं थे कोई भी आवे बैठे रहते थे; लेकिन कह दें तो बिलकुल उठकर चले जाते थे जहाँ कहें वहाँ, आपको दो घटनाएं इसके सम्बन्धकी सुनाते हैं।

एक आये सेठ, बड़े भारी सेठ थे। ये जो सेठ लोग हैं उनकी कला हम जानते हैं ईश्वर-कृपासे। उनके बीचमें रहनेके कारण उनकी विद्या हमको मालूम है, हम उनको उपदेश कभी नहीं करते हैं वे ही आकर हमको उपदेश करते हैं कि महाराज आपको यह काम करना चाहिए, गोरक्षा ऐसे करनी चाहिए, आदि-वासियोंमें यह काम करना चाहिए, और धर्मकी रक्षा यों करना, संस्कृतिकी रक्षा यों करना, ऐसे-ऐसे सब काम आपको करना चाहिए। तो हम कहते हैं हाँ सेठजी आप बिलकुल ठीक कहते हैं आपका विचार सोलह आने पाव रत्ती ठीक है, हमारी भी यही राय है हम भी यही करना चाहते हैं, उनकी हाँ-में-हाँ न मिलाओ तो उनको तो सुननेकी आदत ही नहीं है कि किसीसे उपदेश सुनें।

तो वह बड़े सेठ भी आये, महाराजजीको दो-चार बात सुनाने लगे कि आपको यह करना चाहिए-यह करना चाहिए तो जब जाने लगे तो महाराजजी उठकर खड़े हो गये, और खड़े होकर उस फाटक तक उनको पहुँचाने गये, पहुँचाकर जब आये तो भक्तोंको बड़ा दुःख हुआ। लोगोंने पूछा, महाराज इतने बड़े-बड़े महात्मा लोग आते हैं तब तो आप तख्ते परसे उठते नहीं हैं और उस सेठको पहुँचानेके लिए जिसकी ओर हम लोग भी देखना पसन्द नहीं करेंगे उसको पहुँचानेके लिए आप चले गये फाटक तक। तो बोले कि—'बेटा जो ज्ञानके लिए आता है उसे ज्ञान देते हैं, जो भक्तिके लिए आता है उसको भक्ति देते हैं, जो रोटीके लिए आता है उसको रोटी देते हैं, और जो सिर्फ हमसे सम्मान ही प्राप्त करनेके लिए आता है उसको सम्मान देनेमें हमें क्यों संकीर्णता हो? बाबा, अगर इसीसे तेरी आत्मा खुश होती है तो जा हम सम्मान देते हैं, जा तू सम्मानसे ही खुश होकर जा।'

अच्छा, हम आपको सुनाते हैं कि एक महापुरुष जो है, उसका मन कैसा होता है?

एक बार यहाँ आलोचना हुई कि बाबा तो बिहारीजी नहीं जाते हैं। देखो, महात्माओंकी रीति बड़ी निराली, एक दिन मैंने हाथी बाबासे पूछा। पहले हाथी बाबा बिहारीजीके दरवाजे पर बैठे रहते थे। वहीं जाकर बाहर दरवाजे पर बैठ जाते, बड़े फक्कड़ महात्मा थे, तो एक दिन मैंने उनसे पूछा—'बाबा आजकल आप बिहारीजी जाते हैं?' तो बोले कि भाई हम बहुत दिन बिहारीजी गये अब बिहारीजी ही हमारे पास आते हैं, जब हमको मिलना-जुलना होता है तो आते हैं मिल जाते हैं। तो महाराजजीकी चर्चा होने लगी कि वह बिहारीजीका दर्शन करने नहीं जाते हैं, तो मैंने कहा कि—'महाराज आप बिहारीजी क्यों नहीं जाते हैं सब लोग जाते हैं तो आप भी चलो' तो बोले कि चलो, खड़े हो गये महाराज उस दिन कोई पर्व था, चाहे अक्षय तृतीया होगी, भगवान्‌के चरण दर्शनका होगा, मुकुट दर्शनका होगा, कोई पर्व था, खूब भीड़ थी, गये। अब गये तो जाकर खड़े हो गये, खड़े हो गये तो फिर जाकर लौट आये। तो मैंने कहा

कि 'बाबा आप गये तो सही परन्तु; आपने बिहारीजीको प्रणाम नहीं किया' तो बोले कि—'तुमने हमको याद क्यों नहीं दिलाया, अरे हमारा हाथ पकड़के खींच देते, कानमें कह देते कि बिहारीजीको प्रणाम करो, तो हमको तो याद आयी ही नहीं, तुम कह देते तो हम कर लेते।'

अब देखो उनको किसीको प्रणाम करनेमें, आप समझते होंगे कि वह बहुत बड़े हैं न, वह बड़े नहीं थे वह तो ऐसे थे कि कितनी बात हम आप लोगोंको सुनावें। हमने देखा था ऐसा अपनी आँखसे, किसीने कहा कि बाबा तुम हमको क्या मानते हो? बोले कि तुम तो साक्षात्, जो मैं हूँ सो ही तुम हो, तुम तो परमात्माके स्वरूप हो। कहा—तो तुम हमारा चरणामृत लोगे, हम तुम्हारा चरणामृत लेते हैं, तुम हमारा चरणामृत लोगे? यह ढिठाईकी बात आपकी कल्पनामें कभी आ नहीं सकती, उस व्यक्तिने अपना पाँव आगे कर दिया, कि जो तुम हो सो ही हम हैं और हम साक्षात् भगवान् हैं तो हमने तुम्हारा चरणामृत बहुत पीया है तुम हमारा लो और बाबाने झट उसके पाँवका अंगूठा धोकर पी लिया।

माने आप क्या, यह जो बाजारू लोग हैं बाहर-बाहर घूमते हैं उनको मालूम नहीं हैं कि ये महापुरुष लोग जो हैं उनकी क्या रहनी होती है, उनका कहाँ अहं होता है। वह देहसे बिलकुल ऊपर होते हैं—कैसे अतीत होते हैं?

अच्छा! अब अपनी एक बात आपको सुनाते हैं; क्योंकि अब समय भी तो हो ही गया है तो अभी आजका उपसंहार यहीं करते हैं फिर दूसरे दिन सुनावेंगे। आप लोग आते रहना तो हम और बहुत सारी बात सुनावेंगे। हमने जैसे श्रीकृष्णका ध्यान किया है उसी तरहसे हमने महाराजका भी ध्यान किया है। हमारे श्रीकृष्णमें और महाराजमें कोई फर्क नहीं रहा है।

अच्छा! तो चलते-चलते हम आपको सुनाते हैं, हम गीताप्रेसमें रहते थे यह तो बहुत लोगोंको मालूम होगा, यह कल्याण पत्रिका जो निकलती है उसमें वेदान्त अंकसे लेकर, साधना अंक, संत अंक, मानसांक, भागवतांक, भागवतांक तो प्रायः पूरा ही ये सब हमारी उपस्थितिमें ही वहाँसे निकले हैं। और एक-एक अंकमें हमारे बीस-

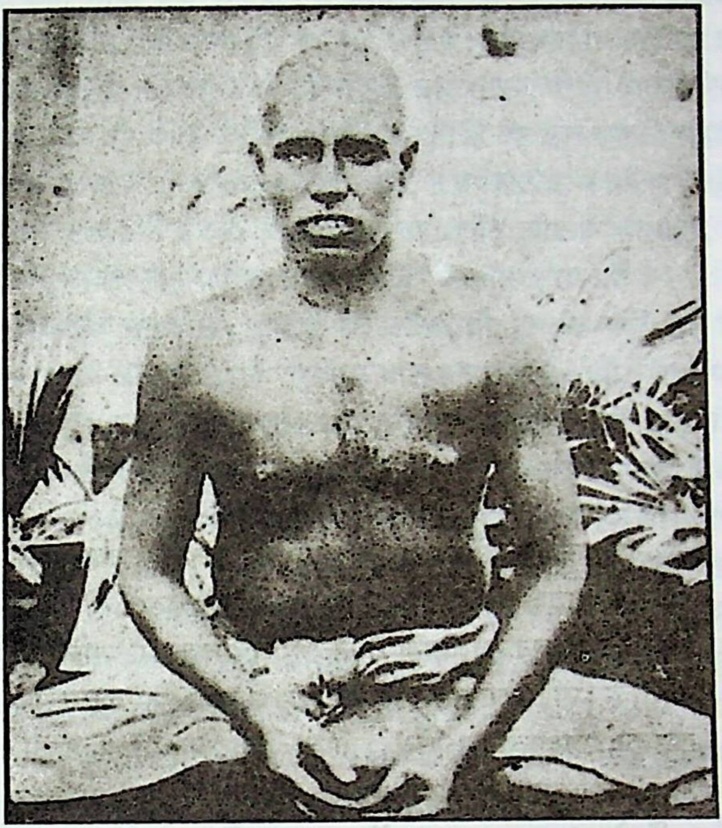
बीस, तीस-तीस निबन्ध छपे हुए हैं। अच्छा! तो मैं कल्याणसे आया एक बार महाराजका दर्शन करने कर्णवास। पूछने लगे क्या हाल है कल्याणका। मैंने बताया बहुत ही बढ़िया है महाराज! उनका भाव बहुत ही उत्तम है, सेठजी धर्मके बड़े पक्षपाती हैं, भाईजीके हृदयमें बहुत भक्ति है, सब बहुत ही अच्छे हैं—मैंने ज्यादा प्रशंसा की वहाँ की, तो बोले कि सन्तनु! कभी शन्तनु बोलते थे कभी सान्तनु, शब्द तो दोनों ही ठीक हैं, वह जो महाराज भीष्म पितामहके पिता थे उनका नाम तो शान्तनु था—*शं तनोति इति शन्तनु और कर्मणा तेन शन्तनु, स्पृशति जीर्ण यौवनं ते च* यह शन्तनु शब्द है और *शान्तम् महात्मन् नौ इति शान्तनु*। अच्छा! अब शान्त शब्द जो है तालब्य शकारसे यह तद्धितमें मध्यवर्ती त् प्रत्यय जहाँ शम्भु, शुभंजुः आदि शब्द जहाँ बनते हैं वहाँ सन्तः शब्द भी बनता है भला, तो उससे भी सन्तनु शब्द बनता है। तो वह तो बुलाते प्रायः सन्तनु, संन्यासी होनेके बाद भी सान्तनु ही बोलते थे। अखण्डानन्द प्रायः नहीं बोलते थे, कभी किसीसे कह दिया तो कह दिया, तो मैं आया था गीताप्रेससे, मेरा नाम था शान्तनु, बोले—'सन्तनु, एक बात सुन, एक कथा सुन, तो अब आप लोग भी कथा सुन लीजिये, मैं सुना देता हूँ। आपके बिहारीजीके दर्शनमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी। एक था फकीर वह और कुछ नहीं बोलता था गाँव-गाँवमें घूमता था और पूछता था कहीं कब्र है कब्र। यह मरनेके बाद जहाँ दफनाते हैं ना, उस जगहका नाम होता है कब्र, तो वह सन्त जहाँ जाता जिस गाँवमें वह पूछता कि कहीं कब्र है कब्र तो लोग उसका भाव नहीं समझते थे, कि यह क्या कहता है, एक कोई बहुत ज्ञानी गृहस्थ थे और अच्छा अभ्यास था उनको परमार्थका वे समझ गये, तो उन्होंने महात्मासे कहा कि महाराज यह कब्र है, अपने घरकी ओर बता दिया तो महात्मा उसमें घुस गये, अब वह एक कमरा था, महात्मा उसमें रहने लगे। शौच जायें, स्नान करें, लघुशंका करें सबकी सफाई वह गृहस्थ करवा देते थे और उनके लिए भोजन-पानी वहीं पहुँचा देते थे। कमरेसे बाहर महात्माजी कभी नहीं निकलते थे न बोलते थे न उपदेश करते थे चुपचाप उसी कमरेमें रहते

थे—तो वह कमरा कब्र था। जब वह महात्मा पूछते थे कि कहीं कब्र हैं कब्र तो और तो कोई जबाब नहीं देता था उस ज्ञानी गृहस्थने जबाब दिया कि कहीं मुर्दा है मुर्दा, तो फकीरने यह जबाब दिया कि यह मुर्दा है—अपने शरीरको। और गृहस्थने बताया मकानको कि ये कब्र है, अच्छा अब वह मुर्दा वहाँ कब्रमें घुस गया और रहने लगा, दस बारह वर्ष बीत गये वह बोले-चाले कुछ नहीं, खाना-पीना सब ठीक। एक दिन रातको उस ज्ञानी गृहस्थके घरमें आये चोर, और हीरा-मोती-सोना जो कुछ उसके घरमें था सब उन्होंने हथिया लिया, जब जाने लगे तब महात्माके मनमें, फकीरके मनमें आया कि बारह वर्षसे मैं इसके घरमें रहता हूँ और मेरे देखते-देखते चोरी हो रही है तो यह ठीक नहीं है, सो जब चोर लोग माल लेकर चले तो वह भी चुपके-चुपके उनके पीछे-पीछे हो गये और वह ले जाकर उन लोगोंने एक कुएँमें ले जाकर वह माल डाल दिया और चले गये।'

महात्माजी अपने कपड़े फाड़-फाड़कर कुएँसे लेकर वापस घर तक रातमें ही निशान बनाते लौट आये। सुबह हुई तो महात्माजीने घरवालेको चोरी हुए मालका पता बता दिया। सब मिल गया। जब लौटे तो उस गृहस्थने महात्माजीसे पूछा—कब्र सच्ची या मुर्दा! और महात्माजी तुरन्त वहाँसे चले गये।

बाबाकी इस कहानीका असर यह हुआ कि गीताप्रेस परिवारसे मेरी जो निकटता हो गयी थी वह दूर हो गयी। नारायण! आज इतना ही!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!



श्रीपूर्णानन्दकल्पद्रुमतलरजसा पाविते भूप्रदेशे,
यस्मिन्कस्मिन्निषीदन् सपदि निजपदे शान्तवृत्तिर्निसर्गात्।
दर्शं दर्शं स्वरूपं परिणतविधुरं ब्रह्म निर्भेदमद्धा,
न श्रद्धां नानुवन्धं श्रुतिशिखरगिरामाग्रहं नानुमन्ये॥

यस्याज्ञा धर्मशास्त्रं सहजशुचिकथा ब्रह्मविद्यानवद्या,
ध्यानं सर्वात्मभानं स्थिरचरहितकृत्छेमुषी शान्तिभूषा।
आश्चर्यं चारुचर्य्या जननयनमनोमोहिनी मुक्तवर्या,
तं पूर्णानन्दतीर्थं गुरुममृतमृतं ब्रह्ममूर्तं प्रपद्ये॥

(6)

श्रीपूर्णानन्दतीर्थ हैं कल्पवृक्ष। उनके पादतलकी धूलिसे पावन जिस किसी भूमिप्रदेशमें बैठते ही बिना किसी साधनके तत्काल वृत्ति अपने स्वरूपमें शान्त हो जाती है। परिणामरहित निर्भेद ब्रह्म अपना ही स्वरूप है–इसका साक्षात्कार होने लगता है। 'अब मुझे श्रद्धा, अनुबन्धचतुष्टय अथवा वेदान्तश्रवणके बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता'–इस मतवादमें आग्रह नहीं रहा॥

जिनकी आज्ञा धर्मशास्त्र है, सहज पावन वार्त्तालाप निर्दोष ब्रह्मविद्या है, सर्वात्मभाव ही ध्यान है, शान्तिरूप अलङ्कारसे अलङ्कृत बुद्धि चराचर हितकारिणी है, जिनकी आश्चर्यमयी चारुचर्या जननयनमनोमोहिनी एवं मुक्त पुरुषोंके लिए भी वरणीय है, उन अमृत, ऋत गुरुदेव श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ। वे ही मूर्त्त ब्रह्म हैं॥

(6)

जहाँ माया एक उपादान है वहाँ ब्रह्म निमित्त है, जहाँ ब्रह्मको उपादान वहाँ साभास माया ही जगत्का कर्ता है। और साभास अविद्या ही जगत्का कर्ता है। तो यह प्रपंच तो वस्तुत: ब्रह्म स्वरूप ही है, ब्रह्मातिरिक्त किंचित् मात्र भी प्रपंच नहीं है। अविद्या यही है कि हम इसको ब्रह्मसे अतिरिक्त मानते हैं। न प्रपंच, न प्रपंचाभास, न प्रपंचातीत, न प्रपंचासाक्षी। ऐसे विभाग कर लें प्रपंच, प्रपंचाभास, प्रपंचातीत और प्रपंचासाक्षी, ये चारों वस्तु प्रत्यग् चैतन्याभिन्न ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जबतक मनुष्यकी बुद्धिमें-से अविद्याकी निवृत्ति नहीं हुई है, तबतक तो ये उसको ब्रह्मके सिवाय मालूम पड़ता है। और जहाँ यह अविवेक दूर हुआ वहाँ सबका सब परमात्मा ही है, उसमें भासना न भासना, स्वप्न-जाग्रत-सुषुप्ति इसकी कोई कीमत फिर नहीं रह जाती है। ये सारे-के-सारे प्रश्न अविद्या निवृत्तिके, अविद्या माने यही कि हम अपने आपको नहीं जानते हैं, अपने आपको ब्रह्म नहीं जानते हैं, अविद्या हमारी पारिभाषिक है। अपनेको नहीं जानते हैं ऐसा तो हो ही नहीं सकता, अपनेको जाने बिना तो कोई व्यवहार नहीं होता है, परन्तु अपने आपको ब्रह्म न जाननेके कारण ये संसारकी प्राप्ति हो रही है।

अपनेको ब्रह्म जाननेमें जो प्रतिबन्ध है, अविद्या रूप प्रतिबन्ध, उसको निवृत्त करनेके लिए वेदान्तका उपयोग होता है।

एक बात वेदान्तमें प्रक्रियाके रूपमें कही जाती है, साधककी योग्यताको देखकर उसको समझानेके लिए और एक बात होती है—मूल सिद्धान्तको समझानेके लिए, तो यह प्रक्रियामें जो बातें कही जाती हैं वह ऐसे हैं जैसे आप उपनिषद् पढ़ें और उसमें यह आवे कि अन्नमय आत्मा है तो आप उसको मान लें कि उपनिषद्में तो ऐसा लिखा है तो फिर आवेगा अन्नमय आत्मा नहीं है मनोमय आत्मा है, तो उसको काटना पड़ता है, अपनी ही प्रक्रियाको, अपने ही मुँहसे मानी हुई, कही हुई प्रक्रियाको काटकर दूसरे सिद्धान्तकी स्थापना करनी पड़ती है। तो ऐसे प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय ये जितनी प्रक्रियाएँ हैं आभासकी और अवच्छिन्नकी

और द्रष्टाकी, ये तीनों प्रक्रियाएँ साधककी योग्यताके अनुसार उसको ऊपर उठानेके लिए हैं।

असलमें तत्त्वज्ञानीका सम्बन्ध अन्तःकरणके साथ नहीं है, बल्कि स्मर्ता आप जिसको बोलते हैं, किसीका होगा प्रश्न, तो सपनेमें हमको एक दिन याद आयी कि अबसे छः महीने पहले हमको यह आदमी मिला था तो वह स्वप्नमें जो स्मरण हुआ वह छः महीने पहले अनुभव किये हुए व्यक्तिका हो रहा है कि स्वतन्त्र त्रिपुटीका स्फुरण है? तो असलमें वहाँ छः महीना पहले न कोई आदमी था, न उसका अनुभव था; परन्तु स्वप्नमें वह स्मृत्याभास मालूम पड़ता है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानीको यदि मानें कि कोई व्यक्ति है, व्यक्ति-विशेष, तो उसका अन्तःकरण और उसमें आनेवाली स्मृति स्वप्न-स्मृतिके समान वह निर्मूल ही है समूल नहीं है। और यह अज्ञानी पुरुषोंको जैसा अन्तःकरण जैसा कर्म और वह पहली बात अविद्याका उपादानत्व, कार्यका उपादेयत्व, पहले तो वहीं बड़ा भारी भेद है कि जैसे मृत्तिकासे घट होता है या चक्र, कुम्हार, दण्ड और सूत्र आदिके सहयोगसे जैसे घटकी उत्पत्ति होती है, ऐसे अविद्याके द्वारा किसी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, जहाँ अविद्यासे उत्पत्ति होगी वहाँ उत्पत्ति हुए बिना ही उत्पत्ति भासेगी, अविद्याका स्वभाव यही है कि न जाननेके कारण अगर ठूँठमें भूत मालूम पड़ रहा है या चोर, तो न वहाँ भूतकी उत्पत्ति हुई है, न चोरकी उत्पत्ति हुई है। इसलिए वेदान्तियोंका यह कहना कि जगत्का कारण अविद्या है, उसका यह अर्थ नहीं है कि जैसे कुम्हार चाक, माटी, डण्डा, सूतसे घटकी उत्पत्ति होती है, वैसे कोई वास्तविक कार्य उत्पन्न हुआ है, बल्कि कार्यकी उत्पत्तिका निषेध करनेके लिए ही अविद्यामें कारणत्वका आरोप किया जाता है।

इसलिए अविद्याकी निवृत्ति होने पर प्रपंचकी प्रतीति अविद्या रहने पर जैसी होती थी वैसी ही अविद्या निवृत्त हो जाने पर भी प्रपंच ज्यों-का-त्यों भासेगा। उसमें बाल मात्र भी फर्क नहीं पड़ेगा, वही स्त्री, वही पुरुष, वही मकान, वही नाक, वही आँख, वही अन्तःकरण, अविद्या रहते समय जैसा भास रहा था वैसा ही अविद्या निवृत्त हो जाने पर भासेगा, केवल अविद्या निवृत्तिमात्र ही होता है—'न हि मोक्षदशायां आनन्दान्तरं

विज्ञानान्तरं वा उत्पद्यते'—मोक्ष दशामें किसी नवीन विज्ञान या नवीन आनन्दकी उत्पत्ति नहीं होती, सब कुछ ज्यों-का-त्यों ही रहता है। बल्कि स्त्री-पुत्र भी रहते हैं और यदि आप लोगोंको बहुत वादविवाद न हो तो काम-क्रोध भी पूर्ववत् ही होता है।

परन्तु यदि अविद्या निवृत्त हो गयी है तो उसमें फलोत्पादनका सामर्थ्य नहीं होता है। वह दग्ध बीजांकुर न्यायसे होता है, और वह जो काम जिसके अन्तःकरणमें पैदा होता है उसमें कामीपना है तो वह मिथ्या है। वह अन्तःकरण है कि मिथ्या है। काम है कि मिथ्या है, कामका विषय है कि मिथ्या है, तो जिसको अविद्याकी निवृत्ति हो गयी है उसके लिए प्रपंचकी प्रतीतिमें कोई अन्तर पड़ता है, ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है। लेकिन चूँकि अविद्या निवृत्ति करनेके लिए हमने साधन चतुष्टयका बड़ा गम्भीर अभ्यास किया है, हमने धर्मानुष्ठान करके दुश्चरित्रका परित्याग किया है, उपासनाका अनुष्ठान करके दुर्वासनाका परित्याग किया है। योगका अनुष्ठान करके विक्षेपको शान्त किया है, केवल अज्ञानमात्र जब शेष रह गया था तब उपनिषद्के महागुरु भी यदि उपनिषद् वाक्यके अर्थके विपरीत, किसी दूसरे अर्थके द्वारा अविद्याको निवृत्त करना चाहता है तो उसको हम नहीं मानते हैं। केवल उपनिषदुक्त जो मार्ग है, भले भाषा उपनिषद्की न हो, परन्तु अर्थ यही होना चाहिए कि आत्मा और ब्रह्म दोनों सिर्फ एक है। यह अविद्या निवृत्त जो तत्वज्ञानके द्वारा हुई है उससे न विक्षेपकी निवृत्ति हुई है ना वासनाकी निवृत्ति हुई है और न प्रपंचका एक बाल बाँका हुआ है, उससे तो केवल अज्ञानकी निवृत्ति हुई है।

परन्तु; यदि उसके पहले आपने, धर्मानुष्ठान करके दुष्कर्मको, उपासनाका अनुष्ठान करके दुर्वासनाको, योगानुष्ठान करके विक्षेपको निवृत्त कर लिया है तो तत्त्वज्ञान होने पर आप ऐसे महात्मा होंगे दिव्य, कि आपको देखकरके ही लोगोंके हृदयमें तत्त्वज्ञानकी ओर रुचि हो जायेगी, भक्ति हो जायेगी, जीवन्मुक्तिकी विशेषता आवेगी, परन्तु विद्या जो है, हाथी हल जोतनेके लिए नहीं है। ब्रह्मविद्या केवल अविद्याकी निवृत्तिके लिए है। बाकी सब कर्तापन भी, अन्तःकरण भी, स्मृति भी, सम्बन्ध भी

और समय पर रोना-गाना भी—ये लड़की विदा करते समय राजा जनक भी रोते हैं और बेटा मरने पर गीता सुननेवाले अर्जुन भी चितामें प्रवेश करना चाहते हैं। तो यह जरूर है कि आजकलके युगमें लोगोंको यही बताना अच्छा है, एक संवाद आपको सुनाते हैं।

झूसीमें श्रीकरपात्रीजी महाराज उन दिनों अपनी चढ़ी जवानीमें आये हुए थे और जयदयाल गोयन्दकाका खूब प्रचार बढ़ रहा था तो यह बात, देखो एक बात और सुना दें कि राग-द्वेष दूसरी चीज है और काम-क्रोध दूसरी चीज है। काम-क्रोध जो है यह तो कार्य वृत्ति है और क्षणिक है और यह विषयके सम्मुख होने पर ही होता है, और राग-द्वेष जो है वह बीजात्मक वृत्ति है और वह संस्काररूपमें बहुत गहराईसे रहती है। तो श्रीजयदयालजीका कहना था कि 'यदि तत्त्वज्ञान होने पर भी काम-क्रोधकी भूख शेष रह गयी तो सब लोग अपनेको ज्ञानी बतावेंगे और काम-क्रोधका उपभोग करेंगे, चरितार्थ करेंगे काम-क्रोधको, और संसारमें अनर्थ फैल जायेगा' और श्रीकरपात्रीजी महाराजका यह कहना था कि—'यदि तुम यह कह दोगे कि तत्त्वज्ञानीके अन्दर काम-क्रोध, लोभ, मोह बिलकुल ही नहीं होते हैं तो इसका फल यह होगा कि जो अपनेको ज्ञानी कह देगा उसके पास लोग अपनी बहू-बेटीको, पैसेको बहुत विश्वास करके भेज देंगे कि इसके अन्दर तो काम-क्रोध लोभ है ही नहीं तो वे बेचारे मारे जायेंगे, इसलिए किसीके पास भी बहू-बेटीको भेजते समय सावधान रहना चाहिए। ज्ञानी होनेके कारण अकाम हो गये, अक्रोध हो गये, अलोभ हो गये हैं, ये सोचनेकी जरूरत नहीं उनके भी शरीर है, उनके भी मन है, उनमें भी विकार हो सकता है, इसलिए इस सम्बन्धमें लोगोंको बहुत सावधान रहना चाहिए।' प्रपंचमें जो अनिर्वचनीयता है, वह दोनों पक्षसे आती है।

हमको याद है एक अदालतमें मैं गया था हमारे बनारस जिलेके कलक्टरके पास, शारदा एक्टके अनुसार एक मुकदमा चल रहा था कि लड़की की उम्र अट्ठारह वर्षसे कम सोलह सत्रह वर्षकी है यह बाल विवाह किया गया है। अब यदि यह विधवा हो जाती है, अब वो जो पक्ष आता था न कि कहीं छोटी उम्रमें शादी करने पर विधवा हो जायेगी, बाल

विधवा हो जायेगी जीवन भर दुःखी रहेगी और उसके साथ समाजका व्यवहार अच्छा नहीं रहेगा, यह एक पक्षका तर्क था और दूसरे पक्षका तर्क यह था कि बड़ी उम्र तक शादी करने पर इसके मनमें वासना उमड़ आवेगी और विवाह होनेके पहले यह नष्ट भ्रष्ट हो जायेगी, यह लड़की दुश्चरित्र हो जायेगी, इसलिए विवाह कब करना चाहिए? एक पक्षका कहना था कि बाल विधवा न हो इसके लिए बड़ी उम्रमें करना चाहिए। और दूसरे पक्षका कहना यह था कि दुश्चरित्र न हो जाय इसके लिए छोटी उम्रमें करना चाहिए, अब आप देखो दोनों पक्षके तर्कमें वजन है कि नहीं है, दोनों पक्षके तर्कमें वजन है इसलिए कहो कि बालविवाह ही करो तो ऐसा कहना नहीं बनता और यह कहो कि बड़ी उम्र होने पर ही विवाह करो तो यह भी नहीं बनता। इसलिए प्रपंचकी अनिर्वचनीयता जो है वह हर हालतमें बनी रहती है। दोनों पक्षमें तर्क है और दोनों पक्षमें प्रतिवादन भी है उसका वादन भी होता है। तो 'एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्' तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने विचार किया और बोले कि बाबा दुनियादार लोगोंको जैसे-जैसे जँचे वैसे-वैसे करें हम इस सामाजिक फंडमें अपनेको प्रविष्ट नहीं करते हैं, हम तो तत्त्वज्ञानका विचार करनेवाले हैं यहाँ तो—

भव वारिधि मरु तृषा समाना। अनु दिन यह भाषत नहिं आना॥

तो, इस तरहसे तत्त्वज्ञानीकी जो स्थिति है—श्रुतिकी बात अगर हम आपको सुनावें तो हमारे गीताप्रेससे, गीताप्रेस हमारा ही है बिलकुल सोलहों आने और उसके आदि कालसे उसके साथ हमारा सहयोग रहा है और अबतक है और अब भी हमारा ही है। परन्तु उसकी जो स्थिति थी उसके रहस्यको भी हम ठीक समझते थे, उसमें कई सिद्धान्त बादमें बने और वह प्रतिक्रिया मूलक बने। माने कई ऐसी-ऐसी घटनाएं घटित हो गयीं, ऐसी दुर्घटनाएँ घटित हो गयीं जिसके कारण उन लोगोंको अपना वैसा मत बनाना पड़ा और वहाँसे पहले श्रुति-रत्नावलि छपी थी एक पुस्तक छपी थी 'श्रुतिकी टेर' यह पुस्तकें गीताप्रेससे छपी थीं हिन्दी अनुवाद सहित उनमें वेदके जो मन्त्र उद्धृत किये गये थे, बादमें जब वह ही पुस्तकें छपीं तब वे वेदके मन्त्र निकाल दिये गये थे, क्योंकि उसमें जो

जीवन्मुक्त महापुरुषके सर्वात्म भावका वर्णन है, या ईश्वरके कर्तृत्वका वर्णन है, कार्यकर्तृत्वका—'**स एव साधु कर्म कारयति यं....**'

यह श्रुति पहले छपी हुई थी श्रुतिरत्नावलिमें। यह है तो श्रुति 'भगवान् जिसको उठाकर अपनी गोदमें लेना चाहता है, उससे अच्छा काम करवाता है और जिसको भगवान् नीचे भेजना चाहता है उससे बुरे काम करवाता है' श्रुति बहुत बढ़िया है। श्रुतिका तो यह कहना है कि जब आदमी बुरा कर्म करने लगे तब आप समझो कि इसका अध:पतन होगा और जब अच्छा कर्म करने लगे तो समझो कि इसका उत्थान होगा—श्रुति तो बहुत उत्तम है उसमें कोई दोष नहीं है। श्रुति तो सर्वथा निर्दोष है, हम तो एक-एक अक्षरकी बात बोल सकते हैं। परन्तु उसका अर्थ यह लगाया गया कि जब दोनों बात ईश्वर ही करवाता है तो 'जीवका क्या दोष है' यह बात इस श्रुतिमें-से निकलती है। इसलिए इसको छापो मत निकाल दो, वह निकाल दी गयी।

अब श्रुतिकी व्याख्या यदि हम ही लोगोंके जिम्मे रहती ना, तब तो हम सब लोगोंको ठीक-ठीक समझाते कि हमारी परम्परासे श्रुतिका यह अर्थ प्राप्त है। अब जब परम्परा हीन लोग ही श्रुतिकी व्याख्या करने लगे तो उन्होंने कुछ-का-कुछ उटपटांग कर दिया।

तत्त्वज्ञानी पुरुषमें तीन धर्म आजाते हैं यह बात स्पष्ट रूपसे—

स सर्वेषां अधिपतिः।

एक तो वह सम्पूर्ण इन्द्र-चन्द्र-ब्रह्म-कुबेर-शिवादि जितने हैं कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके उनका वह अधिपति होता है, वे उसके संकल्पके अनुसार बनते और बिगड़ते हैं। वह जानता है कि यह हमारी दृष्टि है और एक अपूर्व वैदुष्य, अपूर्व वैदुष्य माने 'एकविज्ञानसे सर्वज्ञान'—उसने वह वस्तु प्राप्त कर ली है कि दुनियामें कुछ भी उसको जाननेके लिए बाकी नहीं है। अपूर्व वैदग्ध्य सर्वाधिपत्य, विश्वाधिपत्य, लोकाधिपत्य और अपूर्व वैदुष्य और तीसरी बात यह है कि सर्वभोगमें चाहे जो भी प्राप्त हो रहा हो, चाहे बाजरेकी रोटी हो, चाहे उपवास हो, चाहे हल्वा-पूरी हो उसके आनन्दका लोप कभी नहीं होता है, उसका आनन्द सर्वदा ही बना रहता है। यह जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका वर्णन है।

हमारे सामने इस बातको लेकर अनेक-अनेक महात्माओंमें अनेक-अनेक बार जो चर्चा हुई है, यह अविद्या लेश है यह साभास अन्तःकरण है। यह उसमें कर्तृत्व है। यह सब प्रक्रियाकी दृष्टिसे कहीं-कहीं ठीक बैठते हैं। सब ठीक हैं। लेकिन वह अन्तिम दृष्टिमें, प्रपंचमें परिवर्तन नहीं है। तो एक श्लोक भी सुना देते हैं आपको—**अज्ञस्य विश्वस्य च विश्वमस्ति।**

अज्ञानीको भी मालूम पड़ता है कि दुनिया है और ज्ञानीको भी मालूम पड़ता है कि दुनिया है। 'है' है दोनोंको मालूम पड़ता है। किन्तु अज्ञानीको मालूम पड़ता है कि केवल विश्व ही सत्य है और तत्त्वज्ञानीको मालूम पड़ता है कि केवल आत्मा ही सत्य है और वही विश्वके रूपमें चमक रहा है अपने आत्माके सिवाय और कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

उड़िया बाबाजी महाराज कभी-कभी जब बैठते थे छत पर तो बड़ी मस्तीसे बोलते थे कि हमारे एक-एक रोमकूपसे जो चिंगारी निकलती है चित्कणा निकलती है उन्हींका नाम ब्रह्मा-विष्णु-महेश होता है, और बहनजी वहाँ बैठती थीं तो बोलती थीं देखो! देखो! ये वेदान्ती लोग दिनभर ब्रह्माकार वृत्ति करते रहते हैं ब्रह्म तो यह बैठा है सामने। हम लोगोंकी हँसी उड़ाती थीं कि जब ब्रह्म सामने बैठा है तो ब्रह्माकार वृत्तिकी क्या जरूरत है?

उपादानभूत जो द्रव्य है वह ब्रह्म है। परन्तु वह है निर्विकार, अपरिणामी, एकरस, अद्वितीय। परिणाम होनेके लिए चाहिए काल—प्रथम परिणाम, द्वितीय परिणाम, तृतीय परिणाम और परिणामको फैलनेके लिए देश चाहिए और परिणत होनेके लिए विकारी वस्तु चाहिए तो परब्रह्म परमात्मामें परिणत होनेके लिए न तो विकारी वस्तु है, न तो फैलनेके लिए देश है और न तो क्रम बनानेके लिए काल है। इसलिए परब्रह्म परमात्मामें परब्रह्म परमात्माकी जो अविनाशिता है वही नित्यताके रूपमें फुरती है और उसकी जो पूर्णता है वही देशके रूपमें फुरती है और उसमें जो निर्विकार उपादानता है विवर्ती उपादानता, वही प्रपंचके रूपमें फुरती है। इसलिए तत्त्वज्ञान होने पर किसी भी प्रकारका परिवर्तन जीवनमें या मनमें, या इन्द्रियमें नहीं होता है। परन्तु, वह जो अविद्याका बोझ था वह सर्वथा उतर जाता है। तत्त्वज्ञान अविद्यामात्रका ही निवर्तक है और किसीके साथ उसका निवर्तक भेद नहीं है।

अच्छा! अद्वैत वेदान्तकी रीतिसे मैंने यह बात कही। अब प्रश्न यह है कि अविकृत परिणाम जिसमें हुआ वह जड़ है कि चेतन है?

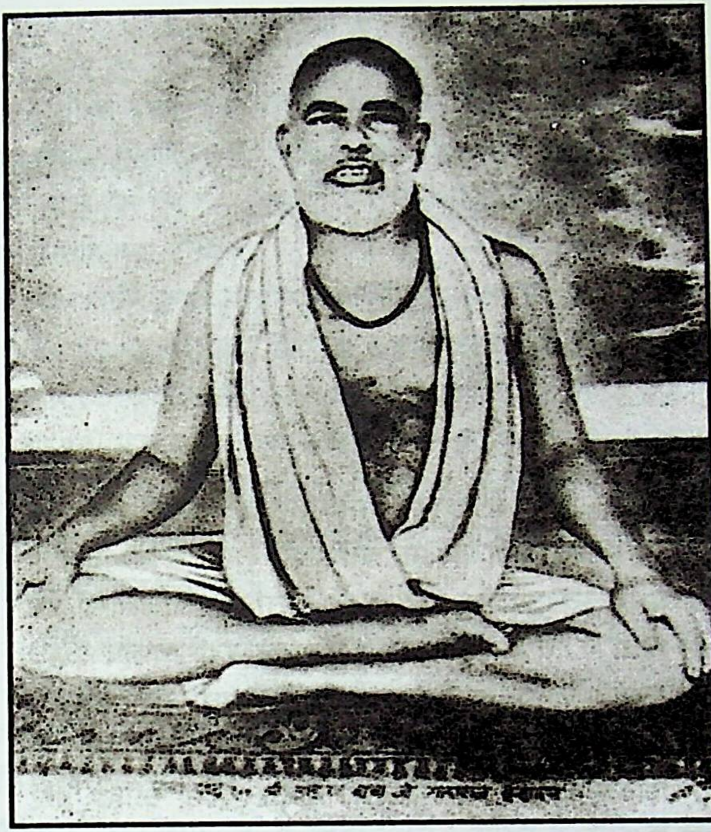
यदि चेतन है तो उसके परिणामका साक्षी कौन होगा ज्ञाता कौन होगा? प्रकाशक कौन होगा? इसलिए अन्ततोगत्वा यही मानना पड़ेगा कि उनका अविकृत परिणाम भी विवर्त पर्यवसायी ही है। विवर्तके पहले कोई बुद्धिकी एक भूमिका विशेष है और उन्होंने परिणाम इसलिए माना कि वह अन्यके रूपमें तत्त्वका विचार करते हैं। तो तत् पदार्थको अविकृत परिणामी माननेमें अद्वैत वेदान्तको कोई आपत्ति नहीं है, वाच्यार्थको अविकृत परिणामी माननेमें अद्वैत वेदान्तकी दृष्टिसे भी कोई हानि नहीं है। परन्तु जब उस तत् पदार्थ और त्वं पदार्थसे वाच्यार्थको जब अलग कर देते हैं तो लक्ष्यार्थकी दृष्टिसे अविकृत परिणामका कोई अर्थ नहीं रहता है। वह विवर्त पर्यवसायी ही हो जाता है। इसलिए संसारके सभी मत अन्ततोगत्वा अद्वैतका ही प्रतिपादन करते हैं कोई परम्परयया करते हैं कोई प्रक्रियया करते हैं और कोई पर्यवसानतया करते हैं। सम्पूर्ण मतवादोंका समावेश जो है वह अद्वैतमें ही है हमारे समन्वयाधिकरणका अर्थ ही यह है।

श्रीकरपात्रीजी महाराजने पहले एक पुस्तक लिखी थी उसका नाम था '**मध्वमतखण्डनम्**' तो जब वह पुस्तक छप गयी उस पर नाम भी छप गया तब लोगोंने कहा महाराज आपके स्वरूपके अनुरूप यह नाम नहीं है कि आप एक मतका खण्डन करनेके लिए पुस्तक लिखें तब उस पर '**समन्वय साम्राज्य संरक्षणम्**' उस पुस्तक पर चिप्पी सटायी गयी, पन्ने-पन्ने पर चिप्पी सटायी गयी, तो हमलोग असलमें समन्वय साम्राज्यके संरक्षक हैं, बौद्ध, जैन, चार्वाकादि मतोंको भी हम यथा किंचित् अद्वैतके साथ समन्वित करते हैं। कोई व्यक्तियोंसे वैराग्यमें हेतु है जैन मत; और कोई दूसरे तत्त्वोंकी प्रपंचकी सत्यताको निवृत्त करनेमें हेतु है बौद्ध मत; तो इस प्रकार यह एक-एक सीढ़ी संसारके सभी मत जो हैं वह हमारी ओर ले आते हैं।

'...ऋजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको...।'

न्याय वैशेषिक सांख्य यदि ऋजु मत हैं तो बौद्ध आदि मत जो हैं वह कुटिल मत हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!



आनन्दब्रह्मविद्यामधिजिगमिषवस्तैत्तिरीया गभीरं,
मीमांसन्ते स्म विश्वं तदुदयविलयं निर्भयास्तत्स्वरूपम्।
कल्याणी काण्ववाणी विमृशति मधुरं वीणयन्ती च तत्त्वं,
तत्पूर्णानन्दतीर्थे मधुनि वयममी निर्द्वयं लीलयामः॥

धर्मः कर्मविशेष एष विहितः शास्त्रैर्मनः शुद्धये,
शुद्ध्या सिद्धपदार्थबोधनविधा निर्बाधमाधीयते।
तत्त्वं त्वं तदिति प्रमा श्रुतिरमा भेदभ्रममापोहिनी,
पूर्णानन्दपदप्रसादपरमा सद्यः क्षमा मुक्तये॥

(7)

आनन्दब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए तैत्तिरीय शाखाके अनुयायी गम्भीर मीमांसा करते हैं कि विश्वका उदय-विलय आनन्द-ब्रह्मसे ही होता है, आनन्द-ब्रह्ममें ही होता है। वे निर्भय होकर विश्वको ब्रह्म-स्वरूप कहते हैं। काण्व शाखाकी कल्याणी वाणी 'मधु-मधु' कहकर तत्त्वका मधुर रूपमें सङ्गीत गाती है। अतएव मधुमय पूर्णानन्दरूप तीर्थमें निर्द्धय होकर हम क्रीड़ा कर रहे हैं॥

कर्म-विशेषका ही नाम 'धर्म' है। यह मनःशुद्धिके लिए शास्त्रोंके द्वारा विहित होता है। मनःशुद्धि होनेपर सिद्ध-वस्तुके बोधकी प्रक्रिया निर्विघ्न हृदयंगम हो जाती है। 'वह तुम हो', 'तुम वह हो'–यह प्रमा श्रुतियोंकी सार-सर्वस्व लक्ष्मी है। यही भेद-भ्रमको दूर करती है। इसीसे पूर्णानन्द-पदका पूर्णतः अनुभव होता है। मुक्तिकी तत्काल प्राप्तिके लिए यही समर्थ प्रमाण है॥

(7)

प्रश्नोत्तर : वह कहते हैं कि पूर्वाघका तत्त्वज्ञानके अव्यवहित पूर्व क्षणसे लेकर अनादि काल पर्यन्त जितने पाप हुए हैं उनका नाश हो जाता है। तो बोले कि यह तो ठीक हो गया पर तत्त्वज्ञानीका जीवन जो आगे रहेगा उसका क्या होगा?

तो उन्होंने कहा उत्तराघका असंश्लेष हो जाता है। 'असंश्लेष हो जाता है' इसका अभिप्राय ही यह हुआ कि उत्तराघ होंगे और उनका असंश्लेष होगा। तत्त्वज्ञानीके पाँवके नीचे क्या कभी चींटी नहीं मरेगी? क्या खण्डन-मण्डन करते समय किसीको दुःख उससे नहीं पहुँचेगा। क्या उसके दण्डको देखकर कोई डर नहीं जायेगा, हो सकता है। तो क्या इससे उसको पाप लगेगा? नहीं पाप नहीं लगेगा उत्तराघका संश्लेष नहीं होता है उसके साथ चिपकते नहीं।

अच्छा! तो एक बात तो हमने कही कि अविद्या उपादान नहीं है ब्रह्म ही उपादान है, अविद्या निमित्त है। ज्यादा करके हमारे अद्वैत वेदान्तियोंमें यही धारणा है। यह जो नैयायिक और वैशेषिकोंने ईश्वरको निमित्त कारण माना और परमाणुओंको उपादान माना वह संस्कार हम लोगोंके लिए, कुम्हार जो है चेतन निमित्त कारण है और मृत्तिका जड़ उपादान कारण है, यह संस्कार हमको वेदान्त समझनेमें कभी-कभी बाधा डालते हैं। इसलिए तत्त्व तो एक ही है और वह है 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा-दृष्टान्तानुपरोधात्' प्रकृति स्वयं परब्रह्म परमात्मा ही है। परमात्माके सिवाय दूसरी कोई भी वस्तु ही नहीं है। तो इसीसे बोलते हैं 'वाचारम्भणं, विकारो नामध्येयं मृत्तिकेत्येव सत्यं....' परमात्मा यही उपादान है, परन्तु विवर्ती उपादान है। विवर्ती माने आत्मत्वेन जब तक उसका साक्षात्कार नहीं होता तबतक उसमें उपादानत्व है और आत्मत्वेन उसका साक्षात्कार हो जानेके बाद उपादानत्व भी कल्पित ही है।

दूसरी बात आपको सुनायी कि अविद्याके साथ जहाँ कार्य कारण भाव होता है। वहाँ असलमें कोई कारण भाव होता ही नहीं है। न वहाँ कोई कार्य ही होता है न कारण ही, कारणत्व धर्मवत् कार्य वहाँ नहीं होता है और कार्यत्व धर्मवत् कार्य नहीं होता है। वहाँ कार्य और कारण प्रतीति मात्र ही होते हैं। इसलिए वेदान्तका यह दृष्टिकोण बहुत सुन्दर है और यह प्रपंचमें कुछ भी यहाँ तक कि शिवोऽहम्, सोऽहम् दुहरानेकी भी कोई जरूरत नहीं है। तभी तक यह 'सोऽहं विचारो' यह रमण महर्षिका श्लोक है—

सोऽहं विचारो बपुरात्म-भावे
साहाय्यकारी परार्गणस्य

यदि शरीरमें आत्मभाव है तो सोऽहंका विचार परमात्माके अनुसन्धानमें सहायक है।

बुद्धिर्हि तत्त्वे स पुनर्निरर्थः

जब तत्त्वज्ञान हो गया तो सोऽहं का विचार बिलकुल निरर्थक है **यथा नरत्वप्रभः नरस्य** जैसे मनुष्यके लिए **अहं मनुष्यो, मनुष्योऽहम्**। यह पागलकी रटना है, स्वस्थ मनुष्यकी नहीं है, इसी प्रकार जिसको ब्रह्मत्व बोध हो गया उसको कुछ भी रटनेकी कोई जरूरत नहीं है वह तो—

सोवत बैठत पड़े उताने कहत कबीर हम वही ठिकाने

यह जरूर है कि यदि जीवनमें दुश्चरित्र है तो धर्मानुष्ठानके द्वारा उसको दूर करो। और वासना है तो यदि दोष दृष्टि मूलक विचारसे यदि वासना दूर न होती हो तो भगवद् उपासना चित्तमें उत्पन्न करके उस वासनाको बिलकुल दूर कर देना चाहिए। इसलिए भक्ति भी बिलकुल ठीक है अपनी जगह पर है। दोषदृष्टि, जिस जिस चीजकी वासना होती है वह एक तो जड़ है, हमसे प्रेम नहीं करती है दूसरे विनाशी है। और तीसरे उसमें जो सुख रूपता है वह हमारे द्वारा कल्पित है। तो उसमें हमने अपनी नित्यता और अपनी सुखरूपता और अपनी प्रकाशरूपता डालकरके, वह खुद सुख देने वाला नहीं है, उसमें सुख नहीं है और वह हमेशा रहने वाला नहीं है। तो तीनों ही आत्मधर्म; उसमें सुखका प्रकाश हो रहा है यह अपना

चिद् धर्म है, वह सुख है यह आनन्द धर्म है और वह हमेशा बना रहेगा यह नित्य सत् धर्म है, यह विषयमें आरोपित करके हम उसको सुख समझते हैं। तो इसलिए साधना जो है यह जिसको मजबूत हो जायेगी उसको तो वेदान्त एक चोटमें काम कर देगा। घोड़ेके रकाबमें पाँव और मोक्षकी प्राप्ति; और जिसका साधना पक्ष मजबूत नहीं है केवल जबानी जमा खर्च; हम ऐसे वेदान्तियोंको जानते हैं, कहो तो पाँच रुपया देकर उनसे झूठ बुलवा दें—हमारी जानकारीमें ऐसे वेदान्ताचार्य हैं; और वेदाचार्य है जिसमें पाँच रुपयेका भी सच्चरित्र, पाँच रुपया भी अपनी सच्चरित्रताकी कीमत नहीं आंकी है उसको वेदान्ताचार्य होनेसे तत्त्वज्ञान हो जायगा यह कल्पना तो बिलकुल छोड़ दो। ऐसे तो हमारे टोकरियों वेदान्ताचार्य घूमते हैं और आ-आकर हमारे पास रोते हैं कि हमको पाँच रुपया कहींसे दिलवा दो, नौकरी दिलवा दो, अपने ही वेद-वेदान्तमें उनकी कोई आस्था, कोई निष्ठा नहीं है। वह द्रव्यनिष्ठ हैं। वेद वेदान्त निष्ठ नहीं हैं, ब्रह्म निष्ठ नहीं हैं।

इसलिए साधनाकी बड़ी प्रबल आवश्यकता है। जैसे हमारे पण्डित भूदेव शर्माजी हैं अलीगढ़ वाले, आते हैं कभी-कभी; यहाँ उत्सवमें भी आये हैं वयोवृद्ध हैं, धर्म समाज कालेजकी उन्होंने बड़ी उन्नति की; तो वह स्वामी अच्युत मुनिजीके यहाँ पंचदशी पढ़ते थे। तो वो हमको बताते हैं, खुद ही बताते हैं कि जब एक प्रकरण पूरा हुआ 'तत्त्वविवेक' पूरा हुआ तो मैंने कहा—बस! महाराज! अब आगे पढ़नेकी क्या जरूरत है? हम तो कृतकृत्य हो गये तब भी दूसरा पढ़नेमें तुम्हारी कृतकृत्यतामें क्या हानि हो जाती है? पंचभूत विवेक पढ़ो। माने वह कहते हैं जो प्रकरण पूरा होता हमको यह प्रतीत होता कि अब तो हम कृतकृत्य हो गये, हम साक्षात् ब्रह्म हैं, अब हमको कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु अच्युत मुनिजी कहते नहीं, नहीं, ऐसा नहीं और पढ़ो, और पढ़ो।

तो, यह कभी-कभी वेदान्त सुननेके पश्चात् आदमीको क्षणिक तृप्ति हो जाती है वह तृप्ति नहीं होती। तृप्त्याभास होता है। तो उस तृप्त्याभासके चक्करमें ना आओ। लोग कहते हैं वृत्ति टिकती नहीं है। तृप्ति बनी नहीं

रहती है। अरे बाबा जब तुम ब्रह्म हो तुम्हें वृत्ति टिकानेकी क्या जरूरत है? परन्तु असलमें वो तत्त्वज्ञानमें ही जो रुकावट है, जो उन्होंने बिना हुए ही 'अलब्धभूमिकत्व' ब्रह्मज्ञानकी भूमिका हुए बिना ही जो उन्होंने अपनेको ब्रह्मज्ञानी मान लिया तब उसमें फिर वृत्ति नहीं टिकती है यह शिकायत है; विषयाकर्षण होता है यह शिकायत है। इसलिए वेदान्तका ठीक-ठीक श्रवण-मनन करते हुए भी ब्रह्माकार वृत्तिका अभ्यास जो है वह बिलकुल पक्का रहे तभी मनुष्य महात्मा हो सकता है। नहीं तो ब्रह्म तो हो सकता है पर महात्मा नहीं हो सकता। ब्रह्म होना आसान है; महात्मा होना बहुत मुश्किल है और ब्रह्माभ्यासके बिना कोई महात्मा नहीं हो सकता, इसी बात पर हमारे महाराज जी बारम्बार जोर देते थे।

ब्रह्माध्यास माने जितने भी अभ्यास हैं उनका अपवाद कर दिया जाय। सम्पूर्ण अभ्यासोंका और अभ्यासोंके कतृर्त्वका, अभ्यास वृत्तियोंका और अभ्यास विषयोंका जो अपवाद है ना अपने स्वरूपमें, वही सबसे बड़ा अभ्यास है।

यहाँ हमारे एक ऐसे ,सत्सङ्गी बैठे हैं कि जिनका ब्याह महाराजजीकी कृपासे हुआ था। एक सज्जन थे उनके चार लड़कियाँ थीं और चारों ब्याह करने योग्य हो गयीं थीं। वह वड़ी फिक्रमें थे कि एकका हो जाय, एकका हो जाय। तो महाराजजीने कहा कि तुम फिक्र मत करो एक ही मण्डपमें हम चारोंकी शादी करा देंगे। और महाराज ऐसा हुआ कि कुछ गलतफहमीसे और कुछ सच्ची चार बारात आ गयी और एक ही दिन, एक ही मण्डपमें चारों लड़कियोंकी शादी हो गयी।

'ऋषीणाम् पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' जानबूझके अर्थकी सिद्धि नहीं दिखाते हैं, उनके मुँहसे जो निकल जाता है दुनियाको देखकरके उसके बारेमें बोलते हैं और महात्मा लोग बोलते हैं और दुनिया वैसी होती जाती है। यह तो ईश्वरके बारेमें भी ऐसे ही है।

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'

एक दिन ईश्वरके मनमें आया कि हम कविता बनावें सो महाराज कविता बनाकर गाने लगे। अब वह जो कविता गाते जाँय, बनाते जाँय,

वृक्ष ऐसे होते हैं और पक्षी ऐसे होते हैं और मनुष्य ऐसे होते हैं; वह भगवान्का जो काव्य, संगीत था वही संसारके रूपमें प्रकट हो गया है।

पश्य देवस्य काव्यं

देख लो! परमेश्वरकी यह कविता न ममार, न जीर्यति, यह न कभी मरी न बुड्ढी होती है—यह नित्य नूतन प्रवाह रूपसे हमेशा चलती रहती है। तो यह संसार क्या है? तो महात्माओंके मुँहसे निकली हुई कविता ही है।

जो हम अन्धेरेमें भटक रहे हैं मालूम नहीं ईश्वर क्या है? मालूम नहीं जीव क्या है? यह न मालूमके चक्करमें जो हम फँसे हुए हैं।

अगर जीवन-मुक्ति आवे आवे, न आवे न आवे, यहाँ तक एकने कह दिया कि हमको ज्ञान हो जाय और उसके बाद हमको नरकमें भी रहना पड़े तो हम हमेशाके लिए नरकमें रहनेको तैयार हैं, लेकिन हमको जो अज्ञानकी पीड़ा है वह हमसे नहीं सही जाती। हमारा अज्ञान मिटे। यह जो लोग सोचते हैं ज्ञान होने पर बड़ा सुख होता है और बड़ी निर्ममता आती है और ऐसी मस्ती आ जाती है—यह सब लोग अपने दैहिक जीवनको ही बनाना चाहते हैं, सत्यको नहीं जानते। सत्यको चाहते नहीं हैं जाननेकी तो क्या बात है सत्यको नहीं चाहते। यदि सत्यकी प्राप्ति हो जाने पर बेहोश ही रहना पड़े तो वह हमको मंजूर है और विक्षेप होवे यह भी मंजूर है और सत्यका ज्ञान हो जाने पर हमको दुःखी रहना पड़े तो वह भी मंजूर है और सुख हो जाय तो उससे कोई परहेज नहीं है, लेकिन हमको सत्यका ज्ञान होना चाहिए। यह जीवन्मुक्तिकी जो बला है यह यदि जिज्ञासुके जीवनमें लग जाती है तो वह अपने अन्दर सद्गुणोंको ही लानेकी कोशिशमें मग्न हो जाता है और जिज्ञासा उसकी धूमिल पड़ जाती है। और सच्ची जीवन्मुक्ति बिना तत्त्वज्ञानके तो हो ही नहीं सकती—इसलिए पहला काम जिज्ञासाका तीव्र होना है। पहला काम जीवन्मुक्तिकी इच्छाका तीव्र होना नहीं है। इसलिए जो जो जीवन्मुक्ति चाहते हैं; धनी लोग चाहते हैं कि हम ऐसे

आरामसे रहें और भक्त लोग चाहते हैं कि हम अंजन लगाके रेशमी कपड़ा पहनके और लटक मटकके चलेंगे, चटक-मटकके, तो हमारी बड़ी भारी भक्ति हो जायेगी। चटक-मटकके चलनेमें भक्ति नहीं होती है और वेशभूषामें नहीं होती वह तो दिलकी चीज है ना तो चाहे हमको धूलमें लोटे रहना पड़े गदहेकी तरह और चाहे सोलहों शृंगारसे सजके रहना पड़े गोलोकमें; हमको तो प्रियतम चाहिए, प्रियतमके बिना तो सब धूल है। ऐसे वेदान्तके मार्गमें यह तत्त्वज्ञान ही प्रियतम है। और इसमें सुखी रहना पड़े, उसमें दुखी रहना पड़े; हम बेहोश भी हों तो अपनी प्रियतमकी गोदमें।

जैसे प्रेममें ऐसी मान्यता है कि हम बेहोश होकर गिरें तो अपने प्रियतमकी गोदमें गिरें

अगर ऐसा तो अन्जाम मेरा
मेरा नाम हो काम तेरा
गिरे गर्दन ढुलक कर पीत पट पर,
खुली रह जायँ यह आँखें मुकुट पर॥

तो जैसे भक्तिके सिद्धान्तमें प्रियतमका जो स्थान है वही वेदान्त सिद्धान्तमें तत्त्वज्ञानका स्थान है। और वहाँ जो प्रियतमके मिलनकी जो प्यास है वही स्थान जिज्ञासाका है। और जैसे प्रेममें स्वसुखकी वासना कलंक है वैसे तत्त्वज्ञानमें जीवन-मुक्तिकी वासना भी कलंक है।

हम किसी महात्माके पास गये थे शुरू-शुरूमें, तो उन्होंने कहा जीवन्मुक्तिकी चर्चा बिलकुल छोड़ दो। पहले यह सोचो कि असलियत क्या है सच्चाई क्या है? परमार्थ क्या है? परमार्थ ज्ञान हो जायेगा तो जीवन्मुक्ति नामकी कोई चीज होगी तो आकर तुम्हारे चरण चूमेगी और तत्त्वज्ञान नहीं होगा तो करोड़ चाहो, उसको चिट्ठी लिखो या उपवास करो उसके लिए चाहे उसको अल्टीमेटम दो तो भी आवे कि नहीं तुम्हारे पास। तत्त्वज्ञान नहीं होगा जबतक, जीवन्मुक्ति फटकेगी नहीं तुम्हारे पास।

इसलिए प्यास जो है ज्ञानकी ही होनी चाहिए, जीवन्मुक्तिकी नहीं।

यह जो हम ऐसा वेश बनावेंगे तो—ऐसा कपड़ा पहनते हैं महाराज; साधु लोग कहते हैं कि लोगोंकी श्रद्धा बढ़े इसके लिए कपड़ा भी खास तरहका पहनना चाहिए वह चमचम चमकते हैं। अब यह हमारे मनोहर हैं ना, ये अभी रास्तेमें कह रहा था जिस दिन हम नया कपड़ा पहन लेते उस दिन उड़िया बाबाजी और हरिबाबाजी दोनों आँख उठाकर हमारी ओर नहीं देखते थे। तो जब किसीने देखा कि नया कपड़ा पहननेपर तो ये देखते ही नहीं हैं तो उसने कहा कि बाबा नये कपड़ेको फेंक दो हम पुराना ही पहनेंगे कि इनकी नजर तो पड़ेगी हमारे उपर।

उड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने पूछा कि तत्त्वज्ञानी तो मस्त रहता होगा। तो उन्होंने कहा भाई मस्ती जो है यह जीवका धर्म है कि ब्रह्मका धर्म है ? तो मस्ती तो जीवका धर्म है यह ब्रह्मका धर्म नहीं है तो मस्त रहना यह कोई तत्त्वज्ञानीका लक्षण नहीं है; मस्त तो लोग नशेमें इतने हो जाते हैं कि तत्वज्ञानी लोग इतने मस्त देखनेमें नहीं आते हैं। एक गोली खाकर लोग इतने मस्त होते हैं उतनी मस्ती तो तत्त्वज्ञानियोंमें नहीं देखनेको आती है। तो मस्ती तत्वज्ञानका लक्षण नहीं है। एक बारकी बात है मैंने कहा महाराज कबीर साहबने लिखा है कि-

सन्त को देखिए आँख रूप मांहि

आँख कैसी है, सिर कैसा है वह सन्तकी पहचान उसमें कुल होती है। कबीर साहब वाले ध्यान ऊपरको करते हैं ना, तो थोड़ा रक्तका संचार अधिक हो जाता है उनका सिर ऊँचा हो जाता है, तो मैंने महाराजजीसे पूछा तो बोले कि चेहरेकी ज्यादा चमक देखनी हो तो दालमण्डीमें चले जाओ। दालमण्डी माने वेश्याओंका घर, बनारसमें जो वेश्याओंका मुहल्ला है उसका नाम दालमण्डी है।

बाबा बोले कि चेहरे पर ज्यादा चमक देखनेका अगर मन हो तो वेश्याओंके मुहल्ले पर चले जाओ। इसका सम्बन्ध न ब्रह्मचर्यसे है, न तत्त्व ज्ञानसे है, यह तो लोग अच्छा खाते-पीते हैं उनका चेहरा चमकता है। चेहरेकी चमक पर ज्यादा नहीं जाना चाहिए, कपड़े-लत्तेकी चमक पर नहीं जाना चाहिए।

ये जो तत्त्वज्ञानका मार्ग है वह शुद्ध ज्ञानके सिवाय और किसी भी वस्तुकी प्यास अपने चित्तमें नहीं होनी चाहिए। और आप यह देखेंगे कि जिसके मनमें किसी वस्तुकी प्यास जब लग जाती है तो, वो तो कालिदासके जीवनमें एक प्रसंग आया है, उनको एक दिन कुछ खानेको नहीं मिला, कुछ पीनेको नहीं मिला। तो वह खाये हुए थे कहीं भूखे रह गये प्यासे रह गये तो राजा भोजने गुप्तचरोंसे उनका पता लगवाया और बुलवाये गये और बड़े भारी महलमें अच्छा-सा पलंग बिछाकर खूब महक और खूब सुगन्ध और तरातर अब उनको ले जाकर वहाँ बिठा दिया गया। तो बोले कि महाराज! अब आरामसे आप यहीं शयन कीजिये । वह बोले कि बाबा पहले कुछ खाने-पीनेको दो यह स्त्री न हमको, स्त्री भी रखी गयी थी, वहाँ व्यञ्जन भी रखे हुए थे और पलंग भी था, महल भी था और हीरा-मोतीकी माला पहनायी गयी और बोले कि बस अब यहीं रहो उन्होंने कहा पहले हमको गिलास पानी-पीनेको दो, पीछे ये सब काम करना इसके बिना ये सब हमको नरकके समान मालूम पड़ता है। गला सूख रहा है।

तो, यह कहनेका अर्थ है कि जिसके मनमें सच्ची जिज्ञासाका उदय हो जाता है, उसको संसारके भोगोंमें रुचि नहीं होती उसको तो ज्ञानकी प्यास चाहिए। तो वैराग्य लानेके लिए वो यह नहीं ढूँढेगा कि यहाँ खानेके लड्डू कितने रखे हैं वह यह ढूँढेगा कि कहीं पानी है कि नहीं वह तो पानी ढूढ़ेगा। तो अपने आप ही शब्दसे, स्पर्शसे, रूपसे, रससे, धनसे स्त्रीसे, वैराग्य; वो कहे कि कई हजार रुपया ले लो और इस समय पानी पिला दो नहीं तो हम मर जाते हैं। तो एक मामूली-सी प्याससे संसारके भोगोंसे वैराग्य हो जाता है और किसीको ज्ञानकी प्यास लगे और उसको वैराग्य न हो तो यही समझना चाहिए कि उसको प्यास ही नहीं लगी है। यह प्यासका लक्षण ही है कि पानीके सिवाय और सब वस्तुओंसे वैराग्य हो जाय। अब और भी सब वैराग्यके लक्षण हैं।

वैराग्यका लक्षण यह है कि मनमें भोगकी वासना है, अब उस समय किसी पर गुस्सा करेगा कि गिड़गिड़ाके पानी माँगेगा और उस समय

कहे कि 'ऐ पानी दो नहीं तो हम तुम्हें डण्डा मारेंगे; तो वह भाग जायेगा कि पानी देगा, तो उस समय क्रोधसे काम नहीं चलेगा, मनमें शान्ति चाहिए, जैसे किसी वैज्ञानिकको जब किसी भौतिक तत्त्वका पता लगाना होता है तो उस समय गोदमें अपनी स्त्रीको बिठा ले या दुश्मनको गाली देने लगे और कहे कि हम इस भौतिक तत्त्वका पता लगाते हैं तो लगेगा? कुछ नहीं लगेगा। तो भौतिक तत्त्वका पता लगानेके लिए भी काम-क्रोधको शान्त करना पड़ता है, इन्द्रियोंकी चंचलता मिटानी पड़ती है, दूसरे कामोंकी ओरसे अपने मनको हटाना पड़ता है। जो कुछ उस समय गर्मी-सर्दी आवे उसको सहना पड़ता है। आप लोगोंने पढ़ा होगा अखबारोंमें छपा था कि पोटाशियम साइनाइडका स्वाद क्या है, उस जहरको खाके कि स्वाद क्या है? कड़वा है कि मीठा है कि नमकीन है यह किसीको मालूम नहीं था। तो एक जो उसका जिज्ञासु था कि हम पता लगाके छोड़ेंगे वह मेज पर कागज रखके कलम हाथमें लेकर बैठकर और उसने जीभपर वह जहर डाला और कलमसे लिखनेकी उसने कोशिश की, केवल उसको एक शब्द लिखना था कि इसमें स्वाद क्या है? और लिखते-लिखते वह मर गया, एक जहरके स्वादका पता लगानेके लिए एक जिज्ञासु मरने तकको तैयार हो जाता है, और हम लोग पता लगाना चाहते हैं ब्रह्मका,

मैं बौरी ढूंढन चली रही किनारे बैठ

तो, उसके लिए और कामोंकी ओरसे मन हटाना पड़ता है। जो सुख-दुःख आवे उसको सहना पड़ंता है और हमको सफलता मिलेगी इस पर श्रद्धा होनी चाहिए। सचमुच वह वस्तु है। अब ब्रह्म है कि नहीं है यही संशय है तो उसके लिए जिन्दगी असत्वापादक है। तो असत्वापादक जो आवरण है उसको मिटाकर, अभानापादक आवरणको मिटानेके लिए इतनी बड़ी तीव्रता मनमें चाहिए और ऐसा मन उसमें एकाग्र होना चाहिए कि दुनिया दिखे ही नहीं।

तो, यह जो हमारे जिज्ञासु लोग हैं यह कभी जीवन्मुक्ति चाहते हैं, कभी ब्रह्मानन्द चाहते हैं, कभी परमानन्द चाहते हैं और कभी मस्ती चाहते

हैं, कभी बेहोशी चाहते हैं। अब बेहोशीमें कौन-सी वृत्ति रहेगी जो अविद्याको दूर करेगी? बिना ब्रह्माकार वृत्तिके अज्ञान तो दूर हो नहीं सकता। अब यह पष्ठी समाधि जो है वह तो निर्विषय है और उसमें अज्ञानके निवारणका कोई सामर्थ्य ही नहीं है। तो बेहोश हो जानेसे कौन-सी अविद्या दूर होगी। उसके लिए तो बिलकुल तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्य वृत्तिकी जरूरत होती है और उसकी जिज्ञासा जिसको होती है वह ज्ञानके मार्गमें चलता है।

अब यह बात दूसरी है कि तुम पहलेसे यह सोचकर आते हो कि हमको तो मालपूआ चाहिए खानेको, अच्छा तो कल मिल जायगा, हम अभीसे कह देते हैं, हमको रोटी चाहिए, कि मिल जायगी, हमको कपड़ा चाहिए वह भी मिल जायगा। हमको तो हमारे मनकी चीज चाहिए, तो बोले कि लो मन पसन्द चीज लो। यह महात्मा लोगोंके पास कोई ब्रह्मज्ञान फालतू नहीं पड़ा है कि ऐरे गैरे लोगोंके सामने डालते फिरें, अरे जिसको सौ बार गरज हो, साधन सम्पदा हो उनकी शरणमें आवे।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्

केवल परब्रह्मके ज्ञानके लिए अन्य प्रयोजनसे न आवे, और गुरु एव अन्यं, गुरुके पास ही जाय पुस्तकके पास नहीं, गुफामें-से ज्ञान नहीं निकलता। देखो, गुफामें सिर्फ वही चीज मिल सकती है जिसका संस्कार पहलेसे तुम्हारे अन्तःकरणमें है, और गुफामें जाकर जरा वासनाओंको शान्त कर दिया कि पहलेका भरा हुआ जो पदार्थ है वह निकल आवेगा। अब यह बात निश्चित है कि आजतक तुम्हारे अन्तःकरणमें तत्त्वज्ञान कभी भरा ही नहीं; भरा होता तो अविद्याकी निवृत्ति हो जाती; अच्छा नहीं भरा है तो गुफामें-से कहाँसे निकलेगा? गुफामें-से ज्ञान नहीं निकलता। गुफामें-से तो वही वही निकलेगा जो तुम्हारे अन्दर भरा है। इसलिए गुरु एव तस्यै विज्ञानार्थं, विज्ञानार्थं एव, गुरुम् एव, गुरुके ही पास जाय, अभिगच्छेत्का अर्थ है अभिगमन उसके सम्मुख होकर जाय, उसके

इशारेके अनुसार रहे। अभिगमनका अर्थ है शरणागत। यह अभिगमन शब्दका शंकराचार्य भगवान्‌ने कई बार प्रयोग किया है, तो अभिगमनका अर्थ होता है गुरुदेवके प्रति पूर्ण समर्पण, अब कोई कहे कि भाई गुरु कौन होता है? तो आप जानते हैं कितने पन्थी हैं आजकल। यह भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें और भिन्न-भिन्न पन्थोंमें जो फँसे हुए हैं वे गुरु नहीं हुआ करते। अच्छा! कहो कि वेद भी तो एक ग्रन्थ है, तो वेदको ग्रन्थ कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि वह लिखने-पढ़नेकी चीज नहीं है श्रुति तो श्रवणकी वस्तु है। ग्रन्थ तो वो होता है जो कागजपर लिखा जाता है, और अपने आप बाँचा जाता है, और वेद तो आचार्यके उच्चारणके बाद उच्चारण करो। पहली बात वेदकी कि वह ग्रन्थ है ही नहीं। और दूसरी बात यह है श्रवणका अर्थ, शब्द और कर्ण-शष्कुलीका संयोग नहीं है, कि शब्द जाकर कानकी झिल्लीसे टकराए, यह तो श्रवणका अर्थ नहीं है, श्रवणका अर्थ है—*तात्पर्यविधानक-वेदान्तानाम्-अशेषानाम्-आदि-मध्यावसाना-नाम् ब्रह्मात्मा इति श्रवणम् भवेत्।* श्रवण माने कानसे सुनना नहीं। श्रवण माने निश्चय करना, और निश्चय करना माने सम्पूर्ण वेदोंका आदि-मध्य निश्चय करना माने सम्पूर्ण वेदोंका आदि-मध्य-अवसानका आलोड़न करके हम इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि वेदोंका परम तात्पर्य आत्मा और ब्रह्मकी एकता है।

तो यह जो ग्रथी पंथी लोग हैं वे इस तत्त्वज्ञानका निरूपण नहीं कर सकते हैं। तो कैसा होना चाहिए कि श्रोत्रिय, यह गुरुका लक्षण है। इसका अर्थ है गुरु अवैदिक नहीं होना चाहिए, गुरु वैदिक मर्यादाके अनुसार चलने वाला होना चाहिए। बोले—अच्छा! वेदका पण्डित तो हो, परन्तु अनुभव न हो, बोले पण्डित होगा तो वह शब्दोंका उच्चारण तो करेगा, परन्तु अनुभवका संचार नहीं कर सकेगा। अच्छा सिर्फ अनुभवी हो तो बोले अनुभवी है तो स्वयं तो वह मुक्त है पर शब्द द्वारा वह दूसरेके हृदयके ज्ञानको ठीक-ठीक नहीं देख सकेगा। इसलिए अनुभवी भी हो और श्रोत्रिय भी हो, माने गुरु उपनिषद् सिद्धान्तका अनुभवी होना चहिए।

तो, तद् विज्ञानार्थं, विज्ञानार्थं एव, गुरुमेव, अभिगच्छेदेव श्रोत्रियमेव ब्रह्मनिष्ठनमेव सर्वं वाक्यं सावधारणम्। यह जो गुरुमेव अभिगच्छेदेवमें एव शब्द है वह प्रत्येक पदके साथ सम्बद्ध होता है वह केवल गुरुमेवके साथ नहीं है।

एक बात वेदान्तकी बड़ी विलक्षण है कि उसमें वचनकी प्रधानता है। तो यदि उपदेश करनेके बाद वक्ता अपने गौरवकी स्थापना कर दे तुम्हारी बुद्धिमें, तो तत्त्वानुभूति नहीं होगी, और यदि श्रवण करनेके बाद श्रोता अपने व्यक्तित्वमें महत्त्वकी स्थापना कर लेगा तब भी नहीं होगी, और यदि श्रुत्यर्थ अन्य होगा, वाक्यार्थ अन्य होगा तब भी तत्त्वज्ञान नहीं होगा और केवल वक्ता पर विश्वास करके तत्त्वज्ञान होगा तो वक्ताका जो महत्त्व है वह मिथ्या नहीं होगा, और जब वक्ताका महत्त्व मिथ्या नहीं होगा तो स्वरूपकी अनुभूति नहीं होगी इसीसे शङ्कराचार्य भगवान्ने कहा—'गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानन्दरूप: शिवोऽहम्....'

गुरु और शिष्य, श्रोता और वक्ता दोनोंके अहं भावका निषेध हो गया और आत्माकी ब्रह्मताका बोध हो गया, और जितने पंथाई हैं, अब देखो पंथाईका लक्षण क्या है? पंथाईका लक्षण यह है कि उसमें या तो वक्ताका महत्व बढ़ जायेगा, और बढ़ जायगा तो सारा प्रपंच भले मिथ्या हो जाय वह तो मिथ्या होनेसे रहा; अच्छा तो यदि शिष्यमें अहं बुद्धि हो जाय तो वह गया, वचन ही एक ऐसी चीज है जो होता है ठोस और उसका अर्थ होता है सार; तो छिलका फेंक दिया जाय तो उससे अर्थकी कोई हानि नहीं होती है, अच्छा! वह अर्थ यदि अन्य हो तब तो छिलका बना रहेगा वह तो उतरेगा नहीं और यदि वह अर्थ अपना स्व ही हो तो वाच्यकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी, निष्प्रयोजन होनेसे, प्रयोजन पूर्ति होनेसे उस वाच्यका भी बाध हो गया। तो एक ही पदमें वक्ता, वंचन और श्रोता इन तीनोंका जहाँ बाध हो जाता है और आत्माके अतिरिक्त और दूसरी कोई भी वस्तु न जगत्का संचालक, न जगत्में संचाल्य जीव और न जगत्।

अब इतनी चर्चा तो कर दी वेदान्तकी, यह तो हमारा मंगला-चरण है।

ऐसा है कि वैसे मैं भक्ति प्रेमका चाहे जितना भी निरूपण करूँ; परन्तु मैं वेदान्त सिद्धान्तसे कभी भी अलग होकर नहीं बोलता हूँ। वेदान्त सिद्धान्त माने हमारा शांकर अद्वैत, श्री उड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे कि हमको आत्मज्ञान वाले लोग तो बहुत मिले परन्तु; आत्म प्रेम वाले लोग नहीं मिले।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

यह आत्मरति जो है गोस्वामीजीने जैसे अनुवाद किया है ना—

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

इस श्लोकमें तो असलमें तीन चीज है आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मतुष्टि। तो शङ्कराचार्यने इसकी व्याख्या की कि रति जो है वह वनितादिके साथ होती है, स्त्री-पुरुषकी परस्पर रति होती है। तो वह रति कहाँ हो, बोले—वह रति अन्यमें न हो, अन्य विषयक रतियोंकी निवृत्ति ही आत्मरति है, इसको विधानात्मक मत देखो, निषेधात्मक रूपमें देखो, आत्मरति क्या है? स्वातिरिक्त किसी भी नाम, रूप वाले, श्रेष्ठसे श्रेष्ठ, कनिष्ठसे कनिष्ठमें न रहना यह आत्मरति है, और तृप्ति होती है अन्नादिमें, शाङ्करभाष्यका कहना है कि जब बढ़िया-बढ़िया स्वादु पदार्थ खाते-पीते हैं तब उसमें बड़ी तृप्ति होती है। तो बोले कि नहीं! स्वादु पदार्थ खाये-पीये बिना ही तृप्ति जो है वह आत्माका स्वभाव है, उसमें अन्य पदार्थसे तृप्तिकी आवश्यकता नहीं है, यह जीवन निर्वाहके लिए हैं सब। यह व्यक्तिगत जीवनके निर्वाहके लिए है। खाना-पीना यह भूखरूपी रोगकी औषधि है। तृप्तिका साधन नहीं है। तुष्टि होती है धनादिसे, उन्होंने कहा—धनादि मिले तो संतोष होता है, कि आज इतना मिला। तो वो वर्णन करते हैं धन मिलनेसे जितनी तुष्टि होती है उतनी तुष्टि अपने आपमें हो, स्वयं निर्धन सन्तुष्ट रहता है, और बिना उत्तम भोजन-पान किये ही तृप्त रहे और बिना ही पति-पत्नी स्त्री-पुरुषके संयोगके रत रहे, रमता रहे तो इसका नाम होगा—

बोले—अब इसको धन कमानेके लिए भी काम नहीं करना है और बढ़िया भोजन बनवानेके लिए भी, गृहस्थोंके पास है क्या? यह झूठे ही अभिमानमें मारे-मारे फिरते हैं। केवल रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियकी तृप्तिके सिवाय ये कोई अपनी विशेषता बता दें कि हमारे पास क्या है? या तो यह कहेंगे कि हमारा जो मन होता है सो घरमें बनवाकर हम खाते हैं, आर्डरसे भोजन बनता है, आज पकौड़े बनने चाहिए। हाँ भाई! यह बात तो है आपके पास जरूर, रसनेन्द्रियकी तृप्ति; दूसरी जननेन्द्रियकी तृप्ति। पलटन-पर-पलटन बढ़ती जाय और इनके पास और है क्या? और यह देखो कि बोझ कितना है इनके ऊपर? अच्छा! मान-अपमान सहन करनेका सामर्थ्य इनके अन्दर है नहीं। ये खाली हाथ होने पर अपनी मृत्यु ही समझते हैं। तो यह तो संसारके संग्रहमें ही सुख माननेवाले लोग हैं उनके पास क्या है? उसके मुकाबिले तो इनके पास कुछ है ही नहीं।

मण्डन मिश्रके श्राद्धमें शंकर भगवान् घुस गये, किवाड़ी तो बन्द थी कि कोई संन्यासी न आने पावे; क्योंकि संन्यासियोंको देखकर पितर लोग भागते हैं। पितर लोग वैद्योंको देखके भी भागते हैं। श्राद्धमें अगर वैद्य या डॉक्टर आ जाय तो पितर भागते हैं कि इन्होंने हमें मारा है, बाबाजी लोगोंको देखकर भागते हैं कि कहीं हमारे बेटेको साधु बना लिया तो आगे पिण्डदान नहीं मिलेगा, इसलिए पितर लोग बहुत डरते हैं। तो श्राद्धमें वैद्य-डाक्टर, साधु—इनका जाना वर्जित है। तो शङ्कराचार्य भगवान् घुस गये, ऊपरसे आकाशमार्गसे प्रविष्ट हो गये। देखो पुराने जमानेकी बात, मण्डन मिश्रने डाँटा।

गदहा जिसको नहीं ढो सकता ऐसी तू कंथा रखे हुए है कंधे पर 'शिखा यज्ञोपवीत' अगर सिरपर शिखा रहती और गलेमें जनेऊ रहता तो क्या तुमको बोझ हो जाता? तो शङ्कराचार्य बोले—'कंथ'

तुम्हारा बाप भी जिसको नहीं ढो सकता वह कंथा मैं ढोता हूँ, अगर शिखा-सूत्र हमारे ऊपर होता तो सारे वेदका बोझ मेरे ऊपर

होता कि यह करो, यह करो, कर्तव्योंके चक्करमें बिलकुल फँसा हुआ होता।

मैंने जब दण्ड लिया तो मैंने स्वामीजीसे पूछा कि शास्त्रमें ऐसा लिखा है कि जब सब लोग घरमें खा चुकें, धुँआ न उठता हो, पते-वत्ते सब फेंक दिये हों, आग न जलती हो घरमें, तो तब जाकर घरमें भिक्षा माँगना चाहिए। तो स्वामीजी बोले कि देखो अब यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि पहले लोग जब बलिवैश्वदेव करते थे अपने घरमें, तब अतिथिका जो अंश होता था उसको निकालकर पहले अलगकर देते थे और फिर खाते थे। आज तो जो जाय खा ले, धुँआ न हो, तो इसका यह अर्थ होता था कि तुम्हारे लिए नई रसोई उसको न बनानी पड़े, जो बनी बनायी है उसीमें-से तुमको दे दें, और वह पहलेसे निकालकर रखी हुई है इसलिए पवित्र है, अब ये पट्ठे बलिवैश्वदेव तो करते नहीं हैं और खा-पी लेते हैं सब जूठा कर देते हैं, तो इनकी भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। एक ब्रह्मचारी रखो जो बनाकर तुमको रोटी खिलाया करे। यह बात बाबाने नहीं कही शङ्कराचार्यने कही।

बाबाने बात बतायी वह भी आपको सुनाता हूँ। दण्ड लेनेके बाद मैं बाँध पर आया था पहले-पहल। बबराला स्टेशन है, वहाँसे उतरकर नन्दघाटके लिए पैदल ही गया था बाँधपर। तो पहला प्रश्न वहाँ यह हुआ कि मैं हरिबाबाजी महाराजको हमेशा नमस्कार करता था। तो अब स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराजने कहा कि जो दण्डी न हो, और दण्डीमें भी यदि तुमसे विद्वान् हो, त्यागी हो, बड़ा हो तब तो तुम उसको नमस्कार करना और अब्राह्मण साधुको भी नमस्कार नहीं करना। दण्डी न हो, अब्राह्मण हो और दण्डी होनेपर भी यदि त्याग विद्यामें तुमसे छोटा हो तो उसको नमस्कार नहीं करना—ऐसा उन्होंने बताया था। तो उड़िया बाबाजी महाराजसे मैंने पहले ही पूछा कि क्या करना चाहिए? तो उन्होंने कहा—देखो! यह नमस्कार करना जो है यह विनय है, सद्गुण है, यह तो अपने जीवनमें बना रहे यह बहुत अच्छा है, पर दण्डी लोग जैसे दण्ड लेकर और उसमें वस्त्र लगाकर विधिपूर्वक जो दण्डवत् करते हैं वह तुम दण्डीके

सिवाय किसी औरको मत करो, और बाकी सबको हाथ जोड़ देनेमें, सिर झुका देनेमें, यह तो सद्‌गुण है, विनय है, यह तो जीवनमें बना रहे तो अच्छा है। इसमें औधत्य लानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीबाबा बड़ी बढ़िया व्याख्या करते थे महाराज धर्मकी।

धर्मकी एक और बात आपको सुनाते हैं। मैं बाल बनवा रहा था दण्डी होनेके बाद। तो बाल बनवाते समय आगे तो पत्तल रखी जाती और दो पुरुएमें पानी रखकर दोनों हाथ उसमें डाला जाता और नाई बाल बनाता और फिर वह बाल गिरता पत्तेमें; और नाखून। काटता फिर, वह जो पहलेसे पानी भिगोया हुआ रखा था, तो उन दोनोंको गढ़ा खोदकर धरतीमें डाला जाता। बाबू राम सहायने महाराजसे पूछा यह सब क्या पाखण्ड है? हाथ दोनेमें रखो, पत्ते पर पानी गिरे और उसको गाड़ो ले जाकर जमीनमें, यह सब क्या है? तो महाराजजी बोले—'देखो बाबूजी! दण्डी स्वामीके कटे हुए नाखून और कटे हुए बालका भी इतना आदर करना चाहिए कि किसीका पाँव उसके ऊपर न पड़े तो उस महात्माका कितना आदर करना चाहिए यह इस न्यायसे सिद्ध है। यह आदर करनेकी प्रणाली है कि उसके नाखून पर और बाल पर भी कोई थूक न दे, कोई पाँव न डाल दे, धरतीमें गाड़ देना चाहिए।

महाराज ऐसी बढ़िया बढ़िया धर्मकी व्याख्या सुनाते थे कि आपको, यह जो आजकलके बच्चे लोग कह देते हैं इसमें क्या रखा है, इसमें क्या रखा है तो कभी गम्भीरतासे तो विचार नहीं करते, गुरुजनोंकी भी नहीं सुनते। खुद समझते नहीं, दूसरोंकी समझाई मानते नहीं, तो ऐसे जो बेवकूफ लोग हैं उनको तो आगे जिन्दगीमें चलकर जब चपत लगेगी, तब उनकी समझमें आवेगा कि इसमें क्या सार है क्या रहस्य है?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!



क्षीराब्धिस्नापिताङ्गप्रथितगिरिशिरोनीलरत्नाङ्कजन्मा -
ऽऽर्त्तत्राणैकान्तशिक्षः क्षपितकलिमलो लब्धसंन्यासदीक्षः।
ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिप्रखररविकरोद्धूतमोहान्धकारो,
विश्वात्मा प्रत्यगात्मा विहरतु हृदये पूर्ण आनन्दतीर्थः॥

आविर्भूतं पुरस्तान्मदहह महो यद्रहो योगिगम्यं,
रम्यं स्वानन्दपूर्णं स्मितललितमुखं स्निग्धमुग्धावलोकम्।
आश्लिष्यद्वक्षसाऽलं विमृशदतिरसान्मूर्ध्नि हस्ताम्बुजाभ्यां,
लीलाशीलान्तरङ्गं मम नयनयुगं निर्युगं सञ्चकास्तु॥

(४)

गिरिशिरोमणि नीलाचल। स्वयं लक्ष्मीपिता क्षीर-सागर जिनके चरणारविन्दका प्रक्षालन करते रहते हैं। श्रीपूर्णानन्दतीर्थने वहाँ जन्म लिया। उन्होंने सारी शिक्षा ऐसी प्राप्त की जिससे आर्त्तोंका संरक्षण हो। लोगोंके मनसे कलियुगकी मलिनता धो दी। संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिकी प्रखर रवि-रश्मियोंसे मोहान्धकारका निवारण कर दिया। वे ही विश्वात्मा हैं। वे ही प्रत्यगात्मा हैं। वे ही अद्वितीय पूर्णानन्दतीर्थ हैं। हमारे हृदयमें चिरकाल तक विहार करें॥

एकान्त साधना करके योगीजन जिस महान् दिव्य ज्योतिका दर्शन प्राप्त करते हैं, आश्चर्य है वही मेरे नेत्रोंके सामने प्रकट हो गयी है, कितना रमणीय, आत्मानन्दसे परिपूर्ण। मुखारविन्द स्मितसुन्दर। अवलोकन स्नेहसे भरपूर एवं मुग्ध है। यह दिव्य ज्योति मुझे अपने वक्षःस्थलसे आलिंगन करना चाहती है। बड़े प्रेमसे करमकलोंसे शिरःस्पर्श कर रही है। इसका हृदय लीलाके भावसे परिपूर्ण है। यह मेरे दोनों नेत्रोंके सामने कालकल्पनासे मुक्त होकर प्रकाशित होती रहे॥

(८)

वासनाका रूपान्तर करनेके लिए भक्तिसे बढ़कर और कोई सिद्धान्त सृष्टिमें नहीं है और आप देखो ईसाई लोग शरणागत हो सकते हैं और मुसलमान लोग पाँच दफे नमाज पढ़ सकते हैं, लेकिन जो प्रीति हमारे भारतीय धर्ममें हैं वह अन्यत्र नहीं है। तीन-चार दिन हुए रशियन महिला कोई आयीं अपने साथ कोई बीस-पच्चीस डॉक्टरेट करानेके लिए विद्यार्थियोंको लेकर, वह निर्देशन करनेके लिए आयी थी। तो भागवतकी बात बहुत पूछी उसने, जब मैंने उनको यहाँ वृन्दावनकी बात छात्र-छात्राओंको बतायी और यह बताया कि ईश्वरको बच्चा बनाकर अपनी गोदमें खिलाना और दूध पिलाना और उसके कंधे पर हाथ रखकर चलना और उसको अपने प्रियतम पतिकी तरह मानना, यह जो हमारी भारतीय संस्कृतिका ईश्वर है और उसका जो प्रेम है वह दूसरे और किसी मजहबमें नहीं, न खुदा बन्द ही किसीके कंधे पर हाथ रख सकते हैं, न गॉड ही किसीके कंधे पर हाथ रख सकते हैं, न गॉड किसीका पति बन सकता है। यह हमारे धर्मकी विशेषता है कि हमारा परमेश्वर हमारे घरमें हमारा अपना बन करके रहता है। तो उसने कहा कि बिलकुल ठीक है स्वामीजी ऐसा और कहीं नहीं है। उसने बताया न ऐसा ईसाई धर्ममें है, न ऐसा मुस्लिम धर्ममें है, न पारसी धर्ममें है, यह भारतीय धर्मकी एक खास विशेषता है कि हम ईश्वरको बिलकुल अपनी वस्तु बनाकर, अपना बनाकर रखें।

हमारे मनमें वासनाओंका आगार (खजाना) है, यदि हम हुकुम दे दें कि अरे वासना मत आ; तो वह तुम्हारे साथ और छोड़छाड़ करेगी। मना करने पर लोग और छेड़छाड़ करते हैं। एक महाराजजीके भक्त थे, अब हैं या शायद नहीं हैं। कई वर्षोंसे हमको मिले नहीं। लालमणिजी उनका नाम था। अनूप शहरके आगे जो एक गाँव है जहाँगीराबाद, वहाँके थे। बड़े मजेदार भक्त थे—उनका अगर कोई पाँव छू ले तो चिढ़ते थे, बहुत नाराज होते थे। अब लोग जबरदस्ती छेड़छाड़ करें। उनका पाँव छूनेके लिए; ब्राह्मण थे। एक दिन हमारे ठाकुर साहब, प्रतापसिंहने, होंगे शायद यहाँ बैठे हुए आश्रममें, उन्होंने उनका पाँव छू लिया, तो बड़े नाराज हुए और नाराज होकर

महाराजजीके पास गये कि यह प्रतापसिंह हमको बड़ा दुःख देता है हम छोड़कर चले जायेंगे और भूखे रहेंगे। तो बाबाने प्रताप सिंहको बुला लिया— ए प्रतापसिंह! इधर आओ तुमने क्यों लालमणिको तकलीफ दी है? तुम्हें दण्ड दिया जायेगा। बड़े बुद्धिमान थे। बोले—महाराज! आप जो दण्ड दीजिये स्वीकार है। तो महाराजजी बोले—तुम लालमणिके पाँव छूकर क्षमा माँगो। यह जो लोग पाँव नहीं छुआते हैं, वह अगर पाँव छूनेसे नाराज होए तो पाँव छू क्षमा माँग लो और प्रतापसिंहजीने पाँव पर गिर कर क्षमा माँग ली। लालमणिजीको जो सबसे बड़ी शिकायत थी वही दण्ड कि इनका पाँव छूओ।

जो लोग चाहते हैं कि वासनाएँ हमको न छूएँ उनके पास तो वासनाएँ ज्यादा आती हैं। बल्कि जो लोग एकान्तमें जाकर रहते हैं उनको तो वासनाएँ और सताती हैं।

मनुष्य सिद्धिको जल्दी देखता है, और चाहता है कि ऐसी सिद्धि हमारे अन्दर आ भी जाय। परन्तु इस सिद्धिकी दशा कितनी साधना करनेके बाद प्रगट हुई है इस पर मनुष्यकी दृष्टि नहीं जाती। श्रीउड़िया-बाबाजी महाराज जब श्री ज्ञानाश्रमजी महाराजके आश्रममें रहते थे, उनका जो वर्णन किया है वह बड़ा विलक्षण है। उनके यहाँ महात्मा लोग रहते थे। तो किसको कितना खाना चाहिए इसकी तौलका निर्णय वे स्वयं करते थे। और किसीने कहीं ज्यादा खा लिया तो उसको सुलाकर देखते थे कि आज इसका पेट योगाभ्यास करने लायक है कि नहीं। रोज पेट देख लेते थे यह नौलि करने लायक पेट है कि नहीं है? श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके जिम्मे भी यह काम था कई दिनों तक कि लोगोंको तौलके आटा दें। तो यदि ये कृपा करके किसीके ऊपर कि यह इसको वहुत कम पड़ेगा उसको ज्यादा दे देते थे तो उस दिन इनको डाँट सुननी पड़ती थी कि तुमने इसको आधी रोटीका आटा ज्यादा क्यों दे दिया? इसका योगाभ्यास बिगड़ जायेगा। तुम इसकी साधना बनाना चाहते हो कि बिगाड़ना चाहते हो, अब आप लोग जरा तौलिए, खाते समय तो ध्यान ही नहीं रहता है कि हमको ध्यान करना है कि भजन करना है कि जप करना है कि रातको नींद कम आवे इसके लिए प्रयास करना है।

सब लोग सोते रहते तो श्रीबाबाजी महाराज झाड़ू लगा देते। बगीचेमें चारों तरफ रातको कि जो लोग यहाँ रहते हैं उनके पाँवमें कोई कंकड़-काँटा नहीं लगे। रातके समय जब फल टपकते थे तो सबेरा होने पर तो सब लोग उठाकर ले जाते थे, तो यह रातमें ही देख-देखकर कि कौन-सा बढ़िया आम है लेकर श्रीज्ञानाश्रमजी महाराजके लिए रख देते थे। गुरुजीको तो बढ़िया मिले। और लोग ले जायँ सो ले जायँ। आपको मालूम होगा कि दस वर्ष तक वे धरती पर पीठ रखकर लेटे नहीं।

हम लोगोंसे कभी बहुत गपशप करते थे तो बतलाते कि जब मैं कामाक्षी देवीमें था तो जो आवे हमारे सामने वह कहाँसे, क्या काम करके आया है, उसको देखते ही मालूम पड़ जाता था और मैं बोल देता था कि तू यह करके आया है तो ऐसी भीड़ लगी, ऐसी भीड़ लगी कि हजारों आदमी आकर घेरने लगे। अब एक दिन मनमें आया कि मैं चला तो था समाधि लगानेके लिए, और एक मनका विक्षेप अपने पास था कि इसको शान्त कर देंगे। अब तो हजारोंके मनका विक्षेप हमारे मनमें आने लगा तो यह हम समाधिके रास्तेमें बढ़ रहे हैं कि विक्षेपके रास्तेमें बढ़ रहे हैं, दूसरोंके मनकी बात समझ लेना, भगवान्ने बड़ी कृपा की है जीवके ऊपर, कि वह केवल एक ही मनकी बातको याद कर सकता है और समझ सकता है और उसको यदि वो मिटाना चाहे तो जल्दी मिटा सकता है। यदि कहीं सबके मनकी बात सबको मालूम पड़ने लग जाती तो उसको मिटानेमें कितना बड़ा दुःख होता।

तब महाराजने रातके समय प्रार्थना की कि हे परमेश्वर! हमें जो यह सिद्धि मिली है वह वापस हो जाय। वह बताते थे कि हम कमरेके अन्दर बैठे हैं तो भीतके उस पार कौन चल रहा है—यह दिखायी पड़ता था। कौन, कहाँसे, क्या करके आया है यह मालूम पड़ता था। तो हमने कहा हे परमेश्वर! जो दीखता है इसीका भुलाना, इसीका विस्मरण बड़ा कठिन है और जो नहीं दीखता है उसको दिखा करके अब हमारी कौन-सी साधना आगे बढ़ रही है—तो बहुत प्रार्थना करनेके बाद तब फिर यह सिद्धि मिट गयी। वैसे महाराजजीके पास यह सिद्धि तो अब भी थी, वह तो हमको मालूम है, हमारे पास ही न जाने कितने अनुभव हैं; लेकिन आपको

बतलाते हैं कि आप सिद्धि देखते हैं उनकी साधना नहीं देखते हैं। तो हमारे कामकी जो चीज है वह बाकी रह जाती है।

हमारे कामकी चीज तो वह है, जो उनके जीवनमें साधना थी। गङ्गातट पर कर्णवासमें एक स्वामी श्रीनिर्मलानन्दजी महाराज हैं वयोवृद्ध, वह भी सौ वर्षके हैं, अभी हैं ईश्वर कृपासे, और भगवान् करे और कुछ दिनों तक, कुछ वर्षों तक लोग उनके दर्शनोंसे लाभ उठावें, एक दिन वह हमको बताने लगे, हमारा उनका बहुत प्रेम; क्योंकि उन्होंने जिन महात्माजीसे संन्यास लिया था सो योगानन्दजी महाराज थे। वे योगानन्दजी महाराज हमारे गृहस्थाश्रमके गुरु थे और उन्होंने ही उनको संन्यास दिया था। तो वे इस सम्बन्धसे भी सम्भव है हमारे अन्दर कोई योग्यता न होने पर भी, चूँकि स्वामी योगानन्दजी हमको बहुत ही प्रेम करते थे-यह भी बहुत प्रेम करते। तो मैंने इनसे पूछा-महाराजजी! बाबा और आप बहुत दिनों तक साथ-साथ रहे हैं, इनकी कुछ विशेषता बताइये, इनमें आपको क्या विशेषता मालूम पड़ी? तो स्वामी निर्मलानन्दजीने बताया कि एक बार हम लोगोंने विचार किया कि आओ विरक्त गंगातट पर विचरें, दोनों, भिक्षा मांगके खा लेंगे, पेड़के नीचे सो लेंगे और स्वच्छन्द विचरण करेंगे। तो मैंने कहा उड़िया बाबासे, कि हम साथ तो चलेंगे, परन्तु जब तुम आगे चलोगे, तो चाहे जिस रास्तेसे तुम चलोगे; वह काँटेका हो, कुशका हो, अच्छा हो बुरा हो, दाहिने जाय, बाँये जाय, ऊँचे जाय नीचे जाय, मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगा पूछूँगा नहीं कि कहाँ जा रहे हो? और जब मैं आगे चलूँगा तब तुमको भी ऐसा ही करना पड़ेगा, मैं कहाँ जा रहा हूँ यह कभी पूछना नहीं पड़ेगा, जैसे-जैसे मैं चलूँ वैसे-वैसे चलना पड़ेगा, उन्होंने कहा बहुत अच्छी बात। चलो भाई! ऐसे ही चलेंगे। तो बतलाते थे—वे चले तब तो ठीक रास्तेसे चलें और जब मैं चलूँ तो देख लूँ कि यहाँ ज्वारकी खूँटी है, बाजरेकी खूँटी है, यहाँ काँटे लगे हैं, यहाँ कोई रास्ता नहीं है तो मैं वैसे रास्तेसे चलूँ और वह चुपचाप, भले उनके पाँवमें खूँटी गड़ जाय, काँटा गड़ जाय कंकड़ गड़ जाय लेकिन चुपचाप मेरे पीछे मीलों तक चले जायँ और कभी उन्होंने यह नहीं कहा कि ऐसे रास्तेसे तुम कैसे चलते हो? यह स्वामी निर्मलानन्दजी महाराजने स्वयं अपने श्रीमुखसे मुझे ही सुनाया था।

तो अब आप देखो इसमें ! कहाँ जाना है इसकी कोई वासना नहीं है और इसमें कितनी तकलीफ होगी, इसका कोई ख्याल नहीं है। और ये महात्मा चल रहे हैं आगे तो हम इनके पीछे-पीछे चलेंगे, यह विनय है। तो इसमें तितिक्षा, सहनशक्ति कितनी है, निर्वासनता कितनी है, धैर्य कितना है, विवेक कितना है, यह बात एक बार आप अपने ध्यानमें ले आवें और देखें कि हम जिन महापुरुषकी चर्चा करते हैं उनके जीवनमें जो विशेषताएँ थीं वह विशेषताएँ केवल अपने आप ही नहीं आयीं थी, उनके जीवनमें बड़ी-बड़ी तपस्या प्रगट हुई थी।

श्रीप्रभुदत्तजी महाराजने सन् पैंतीस-छत्तीसमें एक वर्षका अखण्ड संकीर्तन यज्ञ किया था। मालवीयजी उसमें पधारे थे, और देशके जो बड़े-बड़े महामण्डलेश्वर स्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराज उन दिनों थे, स्वामी स्वरूपानन्दजी महाराज थे उन दिनोंमें और स्वामी गंगेश्वरानन्दजी महाराज थे। जितने यहाँ मण्डलेश्वर अर्ध कुम्भीके मेलेमें आये थे, सब उनके उस उत्सवमें आये। बाबा रामदासजी भी पधारे थे। बड़ा भारी उत्सव हुआ था। श्रीउड़िया बाबाजी महाराजको भी उन्होंने बुलाया और कर्णवाससे पैदल चलकर, मेरा ख्याल है चार सौ मीलका फर्क तो होना ही चाहिए—कर्णवास और प्रयागराजमें; मैं भी यहाँसे गया हूँ प्रयाग राज पैदल तो कोई चार सौ मील तो जरूर पड़ता है, पैदल चलकर गये। वहाँ जाने पर क्या हुआ महाराज, कि यहाँ श्यामजी चेतन महाराज आये थे ना, उन दिनों उनका नाम श्याम प्रकाश था अब उनका नाम श्याम चेतन पुरी है। हमलोग तो उनको श्याम प्रकाश ही जानते थे, क्योंकि वह हमलोगोंके मुनीम जी थे। माने हम लोगोंको जिस चीजकी जरूरत पड़ती, जगत प्रकाश नामके एक व्यक्ति थे वे और श्याम प्रकाश; ये दोनों वहाँका प्रबन्ध करते थे यह सन् पैंतीस-छत्तीसकी बात है। तो मैं तो अचानक ही उसमें पहुँच गया। हम जा रहे थे कहीं चित्रकूट तो रास्तेमें सुना 'चैतन्य चरितावली' जो लिख रहे हैं महात्माजी, प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, वह यहाँ रहते हैं। तो उनके स्थान पर गया तो मैंने उन्हींसे पूछा यहाँ प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी कौन हैं ? तो वह खुद ही थे, वह काली-काली दाढ़ी और काले बाल, दुबले-पतले, लंगोटी लगाए

कमरमें, साधनाकी मूर्ति, बड़ी भारी तयस्या करते थे। तो मैंने पूछा यहाँ प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी कौन हैं? तो बोले हे नाथ नारायण वासुदेव! आ जाओ। बोलते नहीं थे 'हे नाथ नारायण वासुदेव' करते थे। तो मैं गया फल रखे हुए थे उनके पास, अमनिया किया और हमको खिलाने लगे। मैं साधु नहीं था। सफेद कपड़ेमें था। खिलाने लगे तो मैंने कहा—ब्रह्मचारीजी यदि आप ऐसे प्रेमसे खिलावें तो हम आपके पास कुछ दिन रह जायँ। इशारा किया छः महीने। हमने कहा—छः महीने नहीं, आप खिलाते रहो तो हम जिन्दगी भर आपके पास रहेंगे। फिर आनेकी क्या बात है? हमको दुनियामें क्या काम है? तो उस उत्सवमें मैं भी रहा, और बादमें भागवत की कथा भी फिर करने लगा। सब महात्माओंसे परिचय भी हो गया।

आपको यह बात सुनाते हैं जिस दिन महाराज जी पहुँचे, इनके साथ बहुत लोग थे। बीस-पच्चीस तो पैदल थे, और सौ लोग रेलगाड़ीसे आ गये। और उनका उत्सव बिलकुल जमा जमाया था। पांडाल लगा-लगाया था। सैंकड़ों ब्रह्मचारी-साधु थे। जाने पर महाराज उन्होंने क्या किया कि महाराजके पास आकर कह दिया कि दो सौ रुपया अब कुछ हमारे खजानेमें बाकी हैं, तो आप इसको सम्भालिए और यह उत्सव देखिये। हम नहीं जानते कुछ भी, ब्रह्मचारी तो हैं ही हैं। महाराजजीने कहा—ठीक है! परन्तु ठाकुर साहब कंचनसिंह थे उन्होंने कुछ रुपये दिये और तुरन्त भण्डारा चालू हो गया, और फिर जबतक महाराज वहाँ रहे, महीने भर; और भी प्रयागकी बारह दिनमें परिक्रमा की गयी, जिसमें पाँच सौ, सात सौ आदमी हम लोगोंके साथ हजार दो हजार हो तो अब उसकी हमको याद नहीं है; विचरण करते रहे, वहाँसे अयोध्या गये और सब काम जैसे महाराजका अपना ही है यह नहीं कि ब्रह्मचारीजीका कोई अलग उत्सव हो और हमारा कोई अलग उत्सव हो, उनके लिए तो कुछ अलग था ही नहीं, वह तो जहाँ रहते थे जिसके साथ रहते थे, उसको वे स्वयं अपने रूपमें ही अनुभव करते थे।

अच्छा! अब एक संवाद आपको सुनाते हैं। भाई संवाद ऐसा है कि श्रीआनन्दमयी माँका कोई बहुत अनन्य भक्त यहाँ बैठा हुआ हो तो उसको बहुत न जँचे, लेकिन हम श्रीआनन्दमयी माँके संस्मरण सुनावेंगे तो उनके

अन्दर जो विशेषताएँ हैं वह हम सुनावेंगे। लेकिन इस समय हम महाराजकी विशेषताएँ सुना रहे हैं इसका भी ध्यान रखना चाहिए। माँ बैठी थीं गंगा किनारे बाँध पर, हरिबाबाजीके पास, तो आप जानते ही हैं। वह बाँध भी जब बना था तो महाराज तो जाकर वहाँ बैठ गये बस, और बैठ गये तो अन्नपूर्णाजीने वहाँ अन्नकी ऐसी वर्षा की, ऐसी वर्षा की कि फिर वह तेईस मीलके करीब-करीब लम्बा बाँध, और कुछ महीनोंमें तैयार हो गया और महाराज वहाँ बैठे रहे।

एक दिनकी बात आपको सुनाते हैं, साधारण साधु ऐसे प्रसंगमें ऐसा जमेगा कि नहीं जमेगा आप स्वयं विचार कीजिये। रातको छविकृष्णजी और बहादुर सिंह आये। बोले हमको श्रीहरिबाबाजी महाराजने भेजा है, और आकर प्रार्थना की, कि बाबाने कहा कि, अभ्यास था उनके बोलनेका अबतक मैंने जो कुछ किया उससे न मुझे कुछ लाभ हुआ, न मेरे कुछ साथियोंको लाभ हुआ, यह सब बेकार गया, तो बस आजसे हम महाराजकी शरण ग्रहण करते हैं, जाकर कह दो जो महाराज आज्ञा करेंगे सो हम करेंगे और उनको छोड़कर कहीं नहीं जायेंगे। अब बस उनके चरणोंके आश्रित होते हैं, यह समाचार भेज दिया, बाबा तो हँसते थे, उनकी बात वह समझते थे, उनकी बात वह समझते थे। हमलोग तो बाबा पूरी तरह समझें नहीं, सो महाराज क्या हुआ कि यह तो आयी रातको दस बजे खबर, और जब चार बजे संकीर्तनके लिए हम लोग उठे, बाबा सबको उठाते थे, जा-जाकर उठाते थे। देखो हरि बाबाजी आ रहे हैं चलो चलो कीर्तनमें, सबको जगाते थे। अब कीर्तनमें गये तो मालूम हुआ कि मोटरमें बैठेकर कहीं पंजाबमें चले गये, हरिबाबाजी। सवेरे उनका दर्शन दुर्लभ! तो भक्त लोगोंने कहा यह तो कोई अच्छी बात नहीं है। महाराजजी यहाँ रहें और श्रीहरिबाबाजी चले जायँ। महाराजजी बोले, 'नहीं नहीं, जबतक हरि बाबाजी लौटके यहाँ नहीं आवेंगे, तबतक मैं बाँधसे कहीं जाऊँगा ही नहीं, यहीं रहूँगा। आप देखो इस निश्चयके मूलमें देखो कि कहा—जबतक वह लौटकर नहीं आवेंगे मैं यहाँ ही रहूँगा, और आठ-दस दिनके भीतर ही हरिबाबाजी पंजाबसे लौटकर फिर आ गये। बड़े-बड़े उत्सव वहाँ होते थे।

एक बार तो ऐसा हुआ महाराज कि आनन्दमयी माँका उत्सव था कहीं ढाकामें, पूर्व बंगालमें। सो हरिबाबाजी गये और महाराजजी बाँध पर थे। इतनेमें गाँवमें यह हल्ला हुआ कि वे तो पूर्वी बंगालमें गये हैं। सो उन्होंने बहादुर सिंहको और गुलाबसिंहको, किसीको बकरा बना दिया, किसीको गदहा बना दिया वह लोग तो जंगलमें घास चर रहे हैं और हरिबाबाजी सिर पर हाथ रखे और चुप-चाप पेड़के नीचे उनको देख रहे हैं, उनके पास कोई है ही नहीं और वह बड़े उदास हैं। अब तो महाराज कोहराम मचा बांध पर, गुलाबसिंह और बहादुर सिंहके घरके लोग बाबाके पास आये और रोवें, रोने लग गये। तो महाराजने कहा तुम लोग कितने मूर्ख हो अब बाबा कोई साधारण पुरुष हैं? अरे वह तो साक्षात् भगवान् हैं। उनके रहते गुलाबसिंह औरं बहादुरसिंहको भला कोई बकरा और गदहा बना सकता है। मूर्ख हो तुम लोग देखो बाबा बहुत बढ़िया हैं। महाराजने सबको आश्वासन दिया। जब सब लोग प्रेमसे लौटकर आये वहाँ उत्सव हुआ।

एक बारकी बात। पहले मैं यहाँकी सुना देता हूँ, हरिबाबाजी महाराजकी। हरिबाबाजीने किसीसे कोई बात कही। वह दोनों आपसमें बात नहीं करते थे, जैसे जेठ बैठा हो सामने और देवरानी नहीं बोलती है, ऐसे महाराज बाबा जेठकी तरह बैठते और वे देवरानीकी तरह बैठते और वे देवरानीकी तरह बैठते और मुँह भी दूसरी तरफ करके बैठते थे और उनको कुछ कहना हो तो बताते थे—ऐं देखो! बाबासे यह पूछ लो, महाराजसे यह पूछ लो और बाबा कहते—यह कह दो। उसी आदमीसे कहते और दोनों बिलकुल एक साथ एक आसन पर बैठते थे। बड़े-बड़े तमाशे वहाँ हुआ करते थे महाराज!

तो एक दिन हरिबाबाजीने किसीसे कुछ कहा। तो उसने आकर महाराजजीसे पूछा कि हरिबाबाजी तो ऐसे कहते हैं, आपकी क्या आज्ञा है? तो उन्होंने ऐसा उस आदमीको डांटा हमारे सामने। बोले 'हरिबाबाजीके मुँहसे जो बात निकल गयी उसके लिए फिर मेरे पास पूछने आनेकी क्या जरूरत थी? उन्होंने जो कह दिया सो कह दिया। उन्होंने कहा सो मैंने कहा।'

महाराज! उनके प्रेमकी अगर हम चर्चा करें तो उसका तो बड़ा एक

पुराना पोथा बन जाता है, लेकिन हमें उसी प्रसंगमें वह बात सुनानी है कि बाबा (हरिबाबाजी) बैठे हम लोग हरिबाबाजीको बाबा बोलते थे और श्रीउड़िया बाबाजी महाराजको महाराजजी बोलते थे। हम लोगोंकी रिवाज ऐसे थी। माँ बैठी थी। तीनों एक पंक्तिमें एक ही साथ बैठे थे।

कोई आनन्दमयी माँके बड़े भक्त आये और उन्होंने महाराजजीसे पूछा कि 'महाराजजी आप श्री आनन्दमयी माँको क्या मानते हैं?' देखो इस प्रश्नमें जो असंगति है उसको आप देखो। मानी वह चीज जाती है जो परोक्ष होती है। जैसे देखो एक मनुष्य हमारे सामने बैठा है तो आप पूछो कि आप उसको दुरात्मा मानते हो कि कि महात्मा मानते हो? तो दुरात्मापना भी परोक्ष है और महात्मापना भी परोक्ष है। वो तो हमारा प्रेम होगा उसको तो हम महात्मा बतावेंगे और द्वेष होगा तो दुरात्मा बतावेंगे। असलमें हम अपने दिलकी ही बात उगलेंगे। लेकिन मान्यता जो है वह परोक्षके बारेमें होती है, साक्षात् अपरोक्षके बारेमें नहीं होती। तो यह जो महात्मा होते हैं इनके लिए ईश्वर-जीव-जगत्-देश-काल साक्षात् अपरोक्ष होता है इसलिए किसी भी वस्तुके बारेमें उनकी मान्यता नहीं होती; उनका तो अनुभव ही होता है, अपना स्वरूप ही होता है। मान्यता तो उन लोगोंकी होती है, जिनको पाँवके नीचेकी धरती नहीं दिखती है।

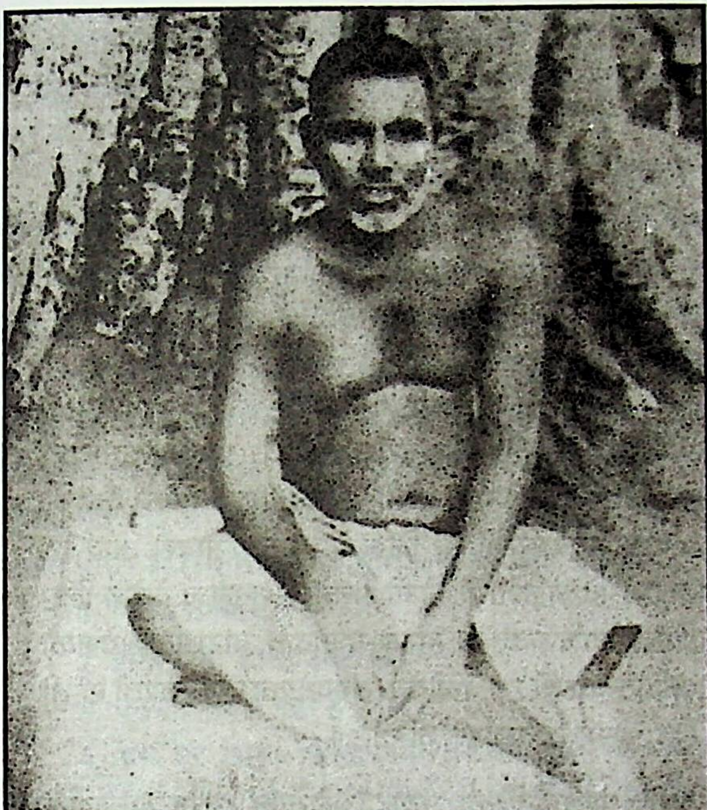
तो उसने कहा कि 'आप आनन्दमयी माँको क्या मानते हैं?' तो बाबा बोले, माँ भी बैठी थीं, उनके सामने ही बोले, और हरिबाबाजी भी बैठे थे। बोले कि 'बेटा जो मैं हूँ सो माँ है, जो माँ है सो मैं हूँ माँ और मैं एक ही हैं।' हम समझते हैं कि इससे बढ़िया और कोई उत्तर नहीं हो सकता था। परन्तु उस भगतने कहा कि बाबा आप तो वेदान्तकी बात कर रहे हैं। माने उसके मनमें था कि वेदान्त तो एकांगी चीज है वह पूर्ण दर्शन नहीं है। बोला आप तो वेदान्तकी बात कर रहे हैं आप सच्ची बात बताइये। बाबा बोले—देख, अगर माँ मुझसे कुछ भी न्यारी है तो तीन कालमें माँकी कोई सत्ता नहीं है, केवल मिथ्या प्रतीति हो रही है माँकी। मैं हूँ सो ही माँ है। तब तो माँ और मैं एक हैं। अगर मेरे अतिरिक्त कोई माँ है तो उसकी कोई सत्ता नहीं है केवल मिथ्या कल्पना मात्र है।

यह बात, माँ भी बैठी थीं बाबा भी बैठे थे बाँध पर, यह प्रसंग आया। आपको ऐसे एक दो बात, ये जो लोग वेदान्तका संस्कार रखते हैं उनके लिए यह बात सुना रहा हूँ। वह अपने ध्यानमें रखें। वेदान्तकी दृष्टिमें दूसरा ज्ञानी नहीं होता। दूसरा महात्मा नहीं होता। अपने सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं होती और एक बात है—सृष्टि केवल जड़से ही होती है। चेतनसे सृष्टि नहीं होती, चेतनकी दृष्टि ही होती है। जड़तामें सृष्टि होती है। चेतनतामें सृष्टि नहीं होती। चेतनतामें परिवर्तन नहीं होता। परिणाम नहीं होता। चेतनकी दृष्टि ही सारी सृष्टि है। और चेतनकी दृष्टि यह केवल विकल्प है। चेतन और दृष्टि दो वस्तु नहीं होती इसलिए चेतन एक अखण्ड सत्ता होता है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अद्वैत सिद्धान्त इसके सम्बन्धमें बिलकुल स्पष्ट है।

अच्छा जी अब और सुनो! यह तो हुई बात वेदान्तकी, महात्माओंकी। एक बार मैंने सपना देखा। सपनेकी बात करके फिर और बात करूँगा? असलमें सब सपना ही तो है। जो बीत गया और लौटके नहीं आ सकता, जिसको आप फिरसे लौटा नहीं सकते वह सपना नहीं है तो और क्या है? तो बाबा यह सपनेकी बात नहीं है, सच्ची है। ब्रजके एक गाँवमें गये। तो वहाँ बिछानेके लिए कोई आसन जल्दीमें नहीं मिला। तो एक स्त्रीने अपना लहंगा ही उनके लिए बिछा दिया। उसके ऊपर बैठे, अब महाराज व्रजवासिनियाँ अँधेरेमें दीया ले-लेकर आवें, और बाबाके मुँहके पास करें कि यह बाबा कैसा, यह तो बड़ा मलूक है, दीया उनके मुँहके पास करके उनका मुँह देखें और वह चुपचाप बैठे स्त्रियाँ रोटी ले आवें, बोले बाजरेकी रोटी खाओ। एक नयी बहू आयी थी। अब वह अपने ससुरके सामने जेठके सामने बाबाको कैसे देखे? घूँधट कैसे खोले? तो महाराज वह पहुँच गयी उनके पास; और अपना घूँघट उनके सिर पै डाल दिया और कानमें कहा कि बाबा कल फिर आइयो। यह ब्रजकी बात है।

अच्छा! अब ब्रह्मचारीजी आ गये, अब मैं और आपको कल प्रेमभक्तिकी बात महाराजके जीवनमें जो देखी थी ना, वह आपको सुनावेंगे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!



पूर्णानन्ददया दृशा रसदया शाश्वत्प्रसादोदया,
ब्रह्मज्ञानविनोदया जनमनोमोदाय निःखेदया।
विश्वप्रेमविकासहासमुदया त्रैलोक्यसम्पद्दया,
पूर्णानन्ददया मदीयमनसे काञ्चित्कणां यच्छतु॥

श्रीकृष्णार्जुनसङ्कथामृतनिधेर्धीरं गभीरं तलं,
तत्त्वान्वेषणतत्परैरधिगतं कैःकैर्न सद्धीवरैः।
किन्तु प्रत्नविचाररत्ननिकरानानीय दाने प्रभुः,
पूर्णानन्दमृते न कश्चिदिति तं सर्वात्मना संश्रये॥

(९)

श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी दया अपनी पूर्णानन्ददायिनी दृष्टिसे मेरे मनको एक छोटी-सी कणिकाका दान कर दे। वह दृष्टि रसदायिनी है, निरन्तर प्रेम-प्रसादसे आर्द्र है। ब्रह्मज्ञान-विनोदिनी है, प्रेमी भक्तोंको आनन्द देनेके लिए अश्रान्त जागरूक है। हास्य-प्रमोदके द्वारा विश्व-प्रेमको विकसित करती है। त्रैलोक्य-सम्पदाका दान करती रहती है। हाँ, ऐसी है यह उनकी दृष्टि॥

श्रीकृष्ण-अर्जुनका संवाद अमृतका समुद्र है। उसके धीर-गम्भीर तलकी थाह तत्त्वान्वेषण-तत्पर किन-किन सद्धीमान् धीवरोंने नहीं पायी अर्थात् बहुतोंने पायी; क्योंकि उनके हृदयमें तत्त्वानुसन्धानके लिए पूर्ण तत्परता थी, परन्तु प्राचीन विचार-रत्नोंकी राशि ढूँढ़कर लानेका और लोगोंको देनेका सामर्थ्य जैसा श्रीपूर्णानन्दजीतीर्थमें है वैसा उनके अतिरिक्त अन्य किसीमें नहीं है। अतएव सर्वात्मना मैं उनका आश्रय ग्रहण करता हूँ॥

आप जिसको संसार समझकर पाना चाहते हैं हम जानते हैं कि यह तो ब्रह्म ही है। हमारे लिए उसमें कुछ भी आपत्तिकी बात नहीं है।

'स्वप्रकाशे ब्रह्मणि सुखमास्महे'

हम तो स्व प्रकाश परमात्मामें मौजसे रह रहे हैं। आप जो चाहते थे सो मिल गया, आप भी सुखी रहिए। वह सुख मिल गया जो सुख चाहिए था, वस्तु चाहिए थी सो तृप्ति नहीं है, संतोष नहीं है, यहाँसे धर्म प्रारम्भ होता है। मिल गयी पर, जिसको लौकिक भोग और पदार्थ चाहे जितने मिल जायँ, साम्राज्य मिल जाय, सप्तद्वीप पृथवीका आधिपत्य मिल जाय, परन्तु यह शरीर तो शरीर ही है, न विषय हमेशा रहेंगे एक बात, और न इन्द्रियोंमें भोगकी शक्ति हमेशा रहेगी, और न तो इच्छा ही हर हालतमें रहेगी, बदलती रहेगी वह तो। और न ही हम अपनेको भोक्ता अनुभव कर सकते हैं हर अवस्थामें। विषय भोग चाहनेमें चार दोष हैं—

1. विषय अनित्य हैं।
2. इन्द्रियोंकी शक्ति अल्प है।
3. मनमें स्थिरता नहीं है। और,
4. हम हर समय भोक्तापनके तनावमें नहीं रह सकते। शान्ति चाहिए, निद्रा चाहिए और उसमें भोक्तापन भी छोड़ना पड़ेगा।

इसलिए जो लोग अपने जीवनका अध्ययन करके देखते हैं कि जिन लौकिक विषयोंको हम चाहते हैं वह तो हमारे लिए, सुख-शान्तिके लिए पर्याप्त नहीं हैं, तो कुछ अलौकिक वस्तु भी हमको चाहिए है; यह उनके मनमें इच्छा होती है। तो जिसको केवल लौकिक-ही-लौकिक वस्तु चाहिए उनके मनमें तो प्राय: पामरपना अधिक होता है। उनको कुछ भी आस्था नहीं किसी भी स्त्रीका वे भोग कर सकते हैं और किसीके हकका माल हड़प सकते हैं और किसी भी वस्तुका गलत संयोग रूप व्यापार कर सकते हैं माने किसी चीजको खा लें चाहे कहीं पी लें उनके लिए तो कोई मर्यादा नहीं है। अब जिन लोगोंके मनमें इस जीवनके पूर्व और इस

जीवनके अन्त और इस जीवनके अन्त:स्तलमें तीनोंमें; जीवनके अन्तस्तलमें एक आत्म चैतन्य है और वह शरीर निर्माणके पूर्व था और शरीर पतनके पश्चात् रहेगा, जब यह भाव उदय होता है तब जीवनमें विषयीपना आता है। पामरपना छूटता है और विषयीपना आता है। हम भोग करेंगे, परन्तु अपनी पत्नीका, हम भोग करेंगे पर अपने पतिका; बिलकुल धर्म हो गया।

अच्छा, हमको ऐसे विषय चाहिए पर यहाँ हम अपने कर्मसे उनको कमायेंगे और स्वर्गमें जाकर उनको भोगेंगे, और यदि इसमें हमसे त्रुटि होगी तो मरनेके बादमें हमारा जन्म होगा, नरकमें हम जायेंगे, यह जब देहातिरिक्त आत्मा पर आस्था बनती है तब निष्ठायुक्त होकर विषयका भोग होता है। और जबतक देहातिरिक्त आत्मापर आस्था नहीं होती तबतक विषयभोगमें निष्ठाका उदय नहीं होता।

तो अब यह जो देहातिरिक्त आत्म-सम्बन्धी ज्ञान है यह पहले-पहल धर्ममें आस्थाके रूपमें जन्म लेता है। यह जो लोग कहते हैं कि चाहे कुछ खाओ, कुछ पीओ, चाहे जैसे रहो आओ हम तुमको परमेश्वर मिला देते हैं वह तुमको हमेशाके लिए परमेश्वरकी ओर चलनेके मार्गसे च्युत कर देते हैं। अब आज दो टूक बात करनी होगी; क्योंकि भक्तिकी बात करनी है।

तो जो यह कहता है चाहे जो खाओ, जो पीओ, जो करो, जैसे रहो, जो बोलो और बस हमारे चेले बन जाओ और हम तुमको परमेश्वरकी प्राप्ति करवा देते हैं वे लोग ठग हैं और आपको संसारमें ही रखना चाहते हैं, बल्कि और संसारमें फँसाना चाहते हैं; और जहाँ तक आप पहुँचे हुए हैं वहाँसे भी नीचे गिराना चाहते हैं।

तो यह जो देहसे परे, पहले, पीछे और भीतर रहने वाला आत्मा है उसको पतनसे बचाकर उत्थानकी ओर ले जाने वाला जो साधु है वह कोई नोटके बण्डलके समान तो वह वस्तु नहीं है। न ही मकानकी तरह। इसलिए वहाँ वक्ता और वचन पर श्रद्धा हुए बिना धर्मका ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि धर्म और धर्मका फल, इन दोनोंका सम्बन्ध

किसी भी इन्द्रियके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं है कि यह धर्म करने पर हमारा परलोक सुधरेगा और पुनर्जन्म सुधरेगा और यह कर्म करके हम इस योनिमें आये हैं इसलिए जहाँ फल और साधनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं होता है वहाँ या तो वचन पर श्रद्धा करो, या तो वक्ता पर श्रद्धा करो, तो जहाँ वचन और वक्ता दोनोंको एकमें मिला देते हैं वहाँ वचन तो होता है शाश्वत, अनादि, अपौरुषेय और वक्ता आते हैं बीच-बीचमें बदलते रहते हैं। तो इसलिए हम जानते हैं कि औपनिषद धर्म जितना स्थायी होगा और मानव धर्म-शास्त्र जितना स्थायी होगा, यदि कबीर या राधास्वामी या दादू दयाल या रमण महर्षि या योगी अरविन्द यदि उसके विपरीत कुछ बोल रहे हैं तो उनका धर्म स्थायी नहीं रहेगा कुछ दिन तक उनके अनुयायी रहेंगे और बादमें उनके चलाये हुए पन्थका बिलकुल लोप हो जायगा।

अच्छा तो इसके साथ, माने शाश्वत आत्माके ज्ञानके साथ शाश्वत वचनका सम्बन्ध है। शाश्वत वचनको ही हम लोग अपौरुषेय वेद-वचन बोलते हैं। अब इसमें किसी-किसीकी श्रद्धा वक्ता पर ज्यादा हो जाती है तब वह पन्थ बना लेते हैं और यदि वक्ता भी नियामक संविधान, जो शाश्वत संविधान है उसको स्वीकार कर लें तो वक्ता भी उसके अनुसार है। प्रधानमन्त्री क्या है? संविधानके अनुसार काम करे तो प्रधान मन्त्री, नहीं तो निकाल बाहर करो, संविधानके अनुसार राष्ट्रपति हो तो उसका आदर करो। यह बीसवीं शताब्दीका जो विधि-शास्त्र सम्बन्धी तत्त्वज्ञान है, वह कहता है कि संविधानके विपरीत होने पर राष्ट्रपति और प्रधान मंत्रीका कोई मूल्य नहीं है। तो हमारा जो शाश्वत संविधान है वह अनादिकालसे यह कहता है कि हमारा जो शाश्वत संविधान है उसके विपरीत होने पर किसी भी वक्ताका कोई मूल्य नहीं है यदि वह शाश्वत संविधानके विरुद्ध जाता है।

कर्तव्य शास्त्रमें संविधानकी प्रधानता है, बल्कि उसमें तो यह भी है कि आप कर्मको तो देखिये ही मत, कर्मके स्वरूपको। एक बार हम बड़े संकटमें पड़ गये हरिद्वार गये कुम्भका मेला था। हरिद्वार स्टेशनसे उतरके

हमको तो हमेशाका अभ्यास कि बाँए चलो; मैं बाँएसे चला, और वहाँ महाराज कानून बन गया था कि स्टेशनसे उतरके दाहिने चलो और हरकी पौड़ी पर सीधे जाओ। बाँएसे चलो तो क्रास करना पड़ेगा दाँएसे चलोगे तो क्रास नहीं करना पड़ेगा; वह बिलकुल ठीक था, मैं अड़ गया कि मैं तो बाँएसे ही चलूँगा। अब पुलिसने बहुत परेशान किया हमको—यह जो संविधान है, कानून है; यह लौकिक स्थितिमें कर्तव्य शास्त्रका जहाँतक निर्णय है वह संविधानके साथ होता है। अब यह बात दूसरी है कि अम्बेडकरने या कन्हैयालाल मुंशीने या अल्पज्ञ पुरुषोंने जो संविधान बनाये हैं उसमें सार्वकालिक और सार्वजनिक दृष्टि नहीं है, सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनिक; तीनों दृष्टिका उसमें अभाव है, यह समय-समय पर उसमें जब आवश्यकता होती है तब परिवर्तन करना पड़ता है। परन्तु यह जो हमारा अपौरुषेय, अनादि, सम्प्रदायाविच्छेदेन प्राप्त, अस्मर्यमाण कर्तृक और शाश्वत आत्माके सम्बन्धमें, उससे सम्बन्ध रखनेवाले धर्म और कर्तव्यका निर्णय है वह अपने शाश्वत संविधान अपौरुषेय वेदराशिके बिना नहीं हो सकता।

अब भक्तिकी बात शुरू करते हैं। भक्ति कर्तव्यशास्त्रके अन्तर्गत, भक्ति भाव शास्त्रके अन्तर्गत, क्योंकि भक्तिका जो फल है वह जमीनके रूपमें या मकानके रूपमें, या मठके रूपमें यदि भक्तिका फल मिलता हो तो सब भक्त जब मठाधिपति हो जाते हैं तब यह होता कि उनकी भक्ति पूरी हो गयी। शास्त्रमें ऐसा आता है—

'मठाधिपतिं दृष्ट्वा सचैलं स्नानमाचरेत्।'

कि यदि कभी संन्यासी मठाधिपतिका दर्शन हो जाय तो सारे कपड़े पहने हुए ही पानीमें कूद पड़े, क्योंकि बाबा अशुद्ध हो गये। क्योंकि उन्होंने एक बार त्याग करके फिर ग्रहण किया है, इसलिए आरुढ़पतित उनकी संज्ञा हो गयी; एक बार ऊपर चढ़कर फिर नीचे गिरना, और ईश्वर कृपासे यह मात्र नामका जो धर्मशास्त्र है; हम तो-भक्तोंमें मिलकर भक्त हो गये ना, तो धर्म शास्त्रकी सारी बात जो है, हमारा जो अध्ययन था धर्मशास्त्रका वह बिलकुल एक तरफ धरा रह

गया, नहीं तो मैंने धर्मशास्त्रका ऐसे ही अध्ययन किया है जैसे काशीके बड़े-बड़े धर्मशास्त्री पण्डित अध्ययन करते हैं। तो हेमाद्रिका जो प्रायश्चित खण्ड है उसमें महाराज एक प्रायश्चित ऐसा है कि अगर संन्यासीके हाथसे कोई दान ले तो वह दान लेनेवाला पापी हो जाता है। क्योंकि महाराज दान लेनेवाला क्यों पापी हुआ? वह यों कि संन्यासीका संसारके किसी वस्तु पर स्वत्व तो है ही नहीं, उसकी अपने हककी कोई चीज नहीं है। वह जब किसीको कोई चीज देता है तो बिना हककी देता है। तो जैसे चोरके चोरीके मालको लेना अपराधकी कोटिमें है वैसे संन्यासीके हाथसे दान लेना भी उसी कोटिका है।

अभी देखो धर्म शास्त्रकी यह बात आपको सुना दी, हमारा कानून जो है वह कितना प्रौढ़ है कितना प्रबल है इस बातका नमूना देखो, शास्त्रके प्रति महत्व बुद्धि उत्पन्न करनेके लिए मैं यह बात कहता हूँ। अच्छा! तो यह हेमाद्रिके प्रायश्चित खण्डमें आरूढ़ पतित परिग्रह, पतितके हाथसे दान लेनेके जो दोष बताये हैं उनमें एक आरूढ़ पतित संन्यासीके हाथसे दान लेनेका भी दोष है और उसके प्रायश्चितका भी वर्णन है। मैंने ईश्वरकृपासे हेमाद्रि ग्रन्थके अनेक खण्ड, वो तो बहुत बड़ा ग्रन्थ है, अभी तो पूरा मिला ही नहीं है। चतुर्वर्ग चिन्तामणि इसको बोलते हैं। बड़ा भारी विशाल ग्रन्थ है तो हमने उसका दान-खण्ड, प्रायश्चित खण्ड, व्रत खण्ड ऐसे देखा है।

अब देखो ईश्वर कृपासे भक्तिका जो फल है वह कोई मठाधिपति होना नहीं है, मन्दिर बनाना नहीं है, रुपये-पैसे वाला होना नहीं है, भक्तिका फल है भक्ति। भक्तिका फल भगवान्‌की प्राप्ति नहीं है। भक्तिका फल भगवान्‌का दर्शन भी नहीं है। क्योंकि फल जो होगा एक वृत्तिका फल, वह जिस अन्तःकरणमें वृत्ति है उसी अन्तःकरणमें उसके फलका उदय होगा, अन्यत्र नहीं होगा। जैसे जिस अन्तःकरणमें कर्तृत्व रखकर संकल्प पूर्वक धर्मानुष्ठान किया गया उसी अन्तःकरणमें अपूर्वकी उत्पत्ति होती है और समय पर फल मिलता है। इसी प्रकार जिस अन्तःकरणमें उसका फल उदय होता है। तो फिर साधन भक्ति और फल-भक्ति दो

विभाग करके 'भक्त्या संजात्यया भक्त्या' श्रीमद्भागवतमें आया भक्तिसे भक्तिका उदय होता है। यह जो चार मिनट चमककर भगवान् चले जाते हैं आँखके सामने ये महाराज बनियोंके लिए बड़ी भारी चीज है। जब उन्होंने सुना कि किसीके सामने भगवान् चमककर चले गये तो उन्होंने कहा—'अहा! इससे बड़ा महापुरुष और कोई नहीं।' हम आपको सुनावें ध्रुवको भगवान्का दर्शन हुआ कि नहीं और उसके बाद ध्रुवके मनमें क्रोध आया कि नहीं आया, हिंसा की कि नहीं की, ध्रुव महात्मा हो गये कि नहीं हो गये। आप विचार करोगे तो ध्रुवको भगवान्का दर्शन भी हुआ और ध्रुवके मनमें क्रोध भी आया, ममताका भी उदय हुआ अपने भाईके प्रति, यक्षोंके प्रति क्रोध भी आया, बड़ा भारी नरसंहार भी किया, स्वयं मनु भगवान्को आकर ध्रुवको समझाना पड़ा—यह तो भागवतमें ही कथा है और ध्रुव ध्रुवलोकमें रहते हुए भी इस बातके लिए रोते रहते हैं कि हमने सकाम भावसे भगवान्की आराधना की। ध्रुवका दोष बतानेके लिए मैं यह आपको नहीं सुना रहा, इसलिए सुना रहा हूँ कि यह सब अनुभव करनेके बाद ध्रुवका मत यह है कि भगवान्के चरणोंमें जैसी हमारी प्रीति होनी चाहिए थी वैसी नहीं हुई। भगवान्का दर्शन तो हो गया; परन्तु जैसा प्रेम होना चाहिए वैसा नहीं हुआ।

तो भक्तिका फल भगवान्का दर्शन नहीं है, भक्तिका फल भक्ति है।

'भक्त्या संजात्यया भक्त्या'

जब भक्ति हम करते हैं तो उस भक्तिसे एक साधन भक्तिके स्थानपर एक फल भक्ति, एक परा भक्ति, एक परा प्रीति; उसको भक्ति कहो, प्रीति कहो, एक कर्तृत्व शून्य और भोक्तृत्व शून्य रसका उल्लास जैसे बालूके टीलेपर हवाके सम्बन्धसे तरह-तरहकी लकीरें बनती हैं वह सृष्टि होती है और जैसे स्वाप्नावस्थामें मनसे तरह-तरहके दृश्य बनते हैं वह दृष्टि होती है। जड़तामें सृष्टि होती है और चेतनतामें दृष्टि होती है। और जहाँ केवल रस या आनन्द होता है वहाँ केवल उल्लास होता है। उल्लास माने थिरकन स्पन्दन।

तो रसका उल्लसित होना जैसे आदमी आनन्दमें भरकरके नाचने

लगता है, थिरकने लगता है तो उसको पाँव, भौंह, कमर ये सब-के-सब क्या बढ़िया रसीली गतिमें संचालित होने लगते हैं। ऐसे अन्तःकरणमें जब बिना प्रयासके ही, सहज स्वभावसे रसकी तरंग, रसकी बौछार, रसका उल्लास उदय होने लगता है तो भक्त लोग कहते हैं यह हमारा व्यक्तिगत या परिच्छिन्न आत्माका रस नहीं है यह तो परिपूर्णतम, प्रियतम, श्रेष्ठतम जो हमारे प्रभु हैं उनके रसका उल्लास हो रहा है। तो ज्ञान तत्त्वकी दृष्टिसे दृष्टि-सृष्टिवाद, सत्ताकी दृष्टिसे त्रिसत्तावाद और आनन्दकी दृष्टिसे इसको रसोल्लास बोलते हैं।

अब फिरसे एक बार लौटते हैं। वह लौटनेकी पद्धति यह है कि कभी-कभी कड़वी चीज भी स्वाद बना देती है, खीर खाते-खाते एकाध बार चटनी-अचार चाट लो तो खीरका स्वाद बढ़ जाता है। इसलिए स्वाद बढ़ानेके लिए हम यह बात आपको सुनावेंगे। जिससे स्वाद बढ़े।

जो तत्त्वज्ञानका जिज्ञासु होगा वह वशिष्टकी आराधना करके कि हे वशिष्टजी प्रकट हो जाओ और हमको तत्त्वज्ञान दे जाओ। बारह वर्षकी तपस्या नहीं कर सकता। वह तो जाकर एक पेड़से पूछेगा कि हे पेड़! तुम हमको तत्त्व ज्ञान दो। जो तत्त्वज्ञानका पिपासु होगा, जिज्ञासु होगा उसके काम गुरु ही आवेगा। जिसके मनमें प्रश्नोंकी झड़ी लग जायेगी और उस झड़ीकी लड़ी नहीं टूटेगी और प्रश्नपर प्रश्न कड़ी जुड़ गयी माने जिज्ञासाका उदय हो गया। यह चीज ऐसी है, आपको भक्तिकी बात बतावें।

भगवान् राधाकृष्ण श्रीयुगल सरकारका दर्शन हो रहा हो तो वह नित्य दर्शनका जो रस है भावमें हृदयमें, उसमें यदि तृप्ति हो जाय तो कैसा? यदि तृप्ति हो जायेगी तो प्रीति बढ़ेगी नहीं, और यदि तृप्ति नहीं होवेगी केवल प्यास-ही-प्यास रहेगी तो वह पुरुषार्थ कैसे होगा? यदि केवल चाह-ही-चाह हो और मिले कुछ नहीं, केवल चाह को कौन चाहेगा और यदि केवल तृप्ति-ही-तृप्ति हो तो फिर वृद्धि नहीं होगी। इसलिए तृप्ति होनेसे पुरुषार्थ है और प्यास होनेसे वृद्धि है। तो पिपासा और तृप्ति दोनों मिलकरके यह भक्ति आगे बढ़ती है।

अब कड़वी बात जो है वह यह कहना है कि यह जो परमेश्वरके साथ भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है यह कोई धन-मकान आदिके समान प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो है नहीं; तो या तो आपकी वक्ता पर श्रद्धा हो और या तो वचन पर श्रद्धा हो। क्योंकि वस्तु जहाँ करामलकवत प्रत्यक्ष नहीं है वहाँ श्रद्धाके बिना काम नहीं चलेगा। तो यह जो सम्प्रदाय चल गये; हम सब सम्प्रदायोंका आदर करते हैं और एक सरीखा करते हैं इसमें यह नहीं; यदि किसीको लगता है कि हमारा सम्प्रदाय सबसे बड़ा है तो वह उसकी निष्ठा है हम उसकी निष्ठाका भी आदर करते हैं, परन्तु बात मूलमें यह है कि सब जगह हैं भगवान् और सब सम्प्रदाय हैं भगवान् और सब आचार्योंने बताया है भगवान् को। अब देखो एक परम्परा यह है कि हमारे आद्याचार्यको भगवत्प्राप्ति हुई और उनके नादज या बिन्दुज परम्परामें हम दीक्षित हुए हैं इसलिए हमको परमात्माकी प्राप्ति होगी— एक श्रद्धाका स्वरूप तो यह हुआ। और एक श्रद्धाका स्वरूप यह होगा कि यह जो हमारा सद्‌गुरु है इसको भगवद्‌भक्तिकी पराकाष्ठा प्राप्त हो गयी है—

मद्‌नाथ जगन्नाथ मद्गुरु जगद्गुरु

मेरे जो इष्टदेव हैं वह सर्वोपरि हैं और मेरे सद्‌गुरु सर्वोपरि हैं। तो जब हम नादज या बिन्दुज होनेके कारण किसी पर श्रद्धा करते हैं तो वहाँ श्रद्धा पीढ़ी-दर-पीढ़ी शैथिल्यको प्राप्त हो जाती है। और जहाँ हमारा सद्‌गुरु साक्षात् भगवान्‌की परम प्रीतिका स्वरूप होता है वहाँ हमको जैसे दीयेके लौसे दूसरा दिया जल जाता है वैसे हमारा प्रीतिका जो दीपक है, स्नेहका जो दीपक है वह तत्काल ही जल जाता है। तो यह बात थोड़ी कड़वी है। क्योंकि एक बार, एक दूसरे शहरमें यह प्रश्न उठा था कि उन सज्जनके, जो बड़े भारी महात्मा थे, ऐसा माना जाता है, उनके कोई बेटा नहीं था, बेटी थी, तो अब बात यह हुई कि यह बेटीके जो बेटे हैं, बेटीकी जो बेटी हैं उनकी जो परम्परा चल रही है, चूँकि उनमें आदि महापुरुषको परमेश्वरकी प्राप्ति हुई थी, भक्ति मिली थी इसलिए उनकी बेटीकी बेटी, बेटीके बेटे ऐसी जो परम्परा चल रही है

उन्हींको सर्वस्व मानो तब भक्ति मिलेगी, परन्तु देखनेमें यह आया कि वह तो सब-के-सब आचार भ्रष्ट हो गये। उनके अन्दर कामकी प्रधानता, क्रोधकी प्रधानता, लोभकी प्रधानता, वे सब-के-सब आचार भ्रष्ट हो गये, अब हमको तो जरा भी विश्वास नहीं होता है कि उनकी परम्परासे भक्ति मिल सकती है। तो जो सच्चा भगवत्प्रीतिका इच्छुक है उसको बिलकुल अपने सामने जो सद्गुरु है उसमें भगवत्प्रीतिकी पूर्णता अनुभव होनी चाहिए। यदि तुम कहोगे कि इसके दस पीढ़ी, बीस पीढ़ी पहले कोई भक्त हो गया है तो बात क्या हुई कि वे तो थे सच्चे भक्त, सच्चे प्रेमी, सच्चे भगवान् प्राप्त, लेकिन ये; तुम खुद ही मानते हो कि वे एक नम्बरके थे, और ये चार नम्बर, आठ नम्बर दस नम्बरके हैं, तो खुद ही तुम उनको इतना छोटा बना देते हो कि उनसे सम्पूर्ण भक्ति मिलनेकी कोई आशा ही नहीं रखी जा सकती। यह बात जरा कड़वी है, परन्तु सच्ची है।

इसी तरह तत्त्वज्ञान जिनको प्राप्त करना है उनको यदि यह कहें कि दस पीढ़ी पहले जो महापुरुष हुए थे उनके चेले-के-चेले ये हैं इसलिए इनसे तत्त्वज्ञान हमको प्राप्त हो जायगा। तो बाबा इस बातको तो मैं साफ ही कह सकता हूँ कि यह आशा करना बिलकुल बेकार है। हमारी जिज्ञासाका सम्पूर्ण समाधान करनेमें जो अक्षम है उसके द्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

अब यह जो भक्ति है यह मिले कहाँसे? तो इसके सम्बन्धमें यह निर्णय है कि भक्तोंके संगसे ही भक्ति मिलती है। जिनके हृदयमें भक्ति होवे उन भक्तोंका संग; यह एकान्तमें नहीं मिलती है। एकान्तमें योगकी समाधि हो सकती है; आप आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार कर लो और एकान्तमें जाकर बैठो और अपने मनको ऐसा धक्का दो, उल्टा धक्का कि प्रतिलोम परिणामको सहज भावसे प्राप्त होकर जाकर समाधिमें प्राप्त हो जाय। अनुलोम परिणामसे समाधि भी नहीं होगी, प्रतिलोमसे ही होगी और एक बार उसके लिए पहली चोट जरूरी होगी कि हमारा मन शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध और सांसारिक सुख-दुःख इनसे विमुख

होकरके अपने स्वरूपमें स्थित होनेके लिए लौट पड़े। लौट पड़नेपर फिर समाधि की कक्षामें जाने पर कर्तृत्व पूर्वक प्रयासकी कोई जरूरत नहीं रहेगी। सहज भावसे वह अन्तर्मुख होकर समाधिस्थ हो जायेगा। विवेक ख्याति हो गयी तो असम्प्रज्ञात और विवेक ख्याति यदि नहीं हुई तो सम्प्रज्ञात परन्तु, समाधि लग जायेगी। एकान्तमें आपको समाधि मिल सकती है। परन्तु, तत्त्वज्ञान तो एकान्तमें नहीं मिल सकता, क्योंकि वृत्तिकी जड़ता यदि अभीष्ट होवे, शान्ति अभीष्ट होवे; तो शान्ति विक्षेपको तो निवृत्त कर सकती है; परन्तु शान्ति अज्ञानको निवृत्त नहीं कर सकती। शान्ति और समाधि दोनोंमें अज्ञानको निवृत्त करनेका सामर्थ्य नहीं है।

इसलिए उसके लिए तत्त्वज्ञानियोंकी कम्पनी नहीं चाहिए। एक हजार तत्त्वज्ञानी नहीं चाहिए और जैसे सत्संगियोंकी भीड़ चाहिए वैसे जिज्ञासुओंकी भीड़में भी रहनेकी जरूरत नहीं है। एक चाहिए जिज्ञासु और उसके लिए एक चाहिए तत्त्वज्ञानी गुरु; और वह व्यक्तिगत रूपसे अपनी सब जिज्ञासाओंका समाधान अपने सद्गुरुसे कर सकता है। यदि महाराज कोई ऐसा होवे अभागा कि वह कहे हम तो दुनियामें किसीको तत्त्वज्ञानी मानते ही नहीं हैं। तो हम किस पर श्रद्धा करें? तो बोले—तब तुम अपने तत्त्वज्ञानी होने पर श्रद्धा कैसे करते हो? जब दुनियामें कोई तत्त्वज्ञानी नहीं है तो तुम कहाँसे तत्त्वज्ञानी हो जाओगे? तुम क्या सातवें आसमानसे टपककर आये हो? कोई नहीं है तो तुम कहाँसे हो जाओगे? कहो कि कोई निर्दोष नहीं है तो तुम निर्दोष कहाँसे होओगे, कहो कि कोई महात्मा नहीं है तो तुम महात्मा कैसे बनोगे? तब तो तुम ज्ञानके महात्मापनके, निर्दोषताके मार्गसे भ्रष्ट हो गये। इसीलिए हम कहते हैं कि वह आदमी बदकिस्मत है।

अब रही बात भक्तिकी! तो, योग तो एकान्तमें हो सकता है और तत्त्वज्ञान एक जिज्ञासु अपनी समस्याओंका समाधान, प्रश्नोंका उत्तर, जिज्ञासाओंका उत्तर; अज्ञानकी निवृत्तिके लिए सचमुच—

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्'

परन्तु भक्ति जो है वह तो महाराज भक्तिका वातावरण चलता है। उसमें तो, भागवतमें इसका बहुत बढ़िया वर्णन है—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥

(3.25.34-35)

बोले—'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति', कि 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा बैठना हमको बिलकुल पसन्द नहीं है। अरे! ब्रह्मज्ञान हों गया तो भी 'मैं ब्रह्म हूँ' करके बैठना आवश्यक नहीं है, और नहीं हुआ तो जिज्ञासु होकर सद्गुरुकी शरणमें रहना चाहिए उसमें भी 'मैं ब्रह्म हूँ' बनके बैठनेकी जरूरत नहीं है, दोनों ही हानि। तब क्या करते हैं कि 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति' एकात्मताकी प्रशंसा भी नहीं करते हैं, स्पृहा भी नहीं करते कि एक दिन ऐसा आ जायगा जब हम परमात्मासे एक हो जायेंगे। क्या करना चाहते हो परमात्मासे एक होकर? प्रश्न यह है कि क्या करना चाहते हो? अब आपकी बात मैं अपने मुँहसे बोलना नहीं चाहता हूँ, परमेश्वरसे एक होकर तुम क्या करना चाहते हो आखिर? बोले—जैसे लक्ष्मीनारायण रहते हैं वैसे रहेंगे, जैसे राधाकृष्ण रहते हैं वैसे रहेंगे, जैसे सीताराम रहते हैं वैसे रहेंगे? क्या करोगे परमात्मासे एक होकर? तो भक्ति सिद्धान्तमें परमेश्वरकी एकताकी स्पृहा नहीं की जाती। वह तो भावमय, रसमय वहाँकी दुनिया तो दूसरी है। तो बोले एक बात तो यह है कि भगवान्‌के चरणारविन्दकी सेवा करो, धीरे-धीरे महाराज—पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां—इतने सुकुमार चरणारविन्द हैं कि वे हाथके कठोर स्पर्शको बरदाश्त नहीं कर सकते। वहाँ तो सम्भोगकी कल्पना ही जो है ना, वह हिंसापूर्ण है। ऐसा रस है कि वह स्वयं उल्लसित होता रहता है, स्वयं तरंगायमान होता रहता हैं। वहाँ कर्तृत्वपूर्वक, कर्मपूर्वक और कृत्रिम भाव पूर्वक वहाँ रसकी उत्पत्तिकी कोई आवश्यकता नहीं होती है। वह तो रस-ही-रस है। बोले क्या करोगे? बोले 'मत्पादसेवाभिरता'

देखो इसमें भी भगवान्‌के चरणारविन्द, उसमें भी मत्पादका अर्थ है 'आवयो पादयो मत्पादयो' हम दोनोंके चरणारविन्द, दोनोंके दो चरणारविन्द नहीं एक चरणारविन्द। उसकी सेवा। बोले—उसकी सेवा भी नहीं। मत्पाद भी नहीं उनकी सेवा भी नहीं परन्तु चाहिए मत्पादसेवाभिरति, अभिरति अपने हृदयकी वस्तु है। अभिरति हार्द्र वृत्ति है और मत्पाद भगवान्‌का है, उनके चरणारविन्द हैं और उनकी सेवा है; परन्तु हमारी उसमें रति है अभिरति, 'सीताराम चरन रति मोरे' हमको न सीता चाहिए, न राम चाहिए, न चरण चाहिए रति चाहिए हमको तो, रतिसे रसानुभूति होती है। रसका उदय रतिसे होता है। रति स्थायी भाव है और रस उसका परिपाक है। तो हमको तो चाहिए रति पूर्वक रस, इसीको कहते हैं—'भक्त्या संजात्यया' बोलते हैं। अब देखो यह मत्पाद सेवाभिरता'। बोले—अरे भाई! दिन-रात उसमें रुचि नहीं होती है। बोले कि जितना काम करें वह सब उसीके लिए है। मदीहा:। एक हम रोटी बनाते हैं तो रोटी बनाते हैं तो भगवान्‌की याद नहीं आती तो प्रश्न है किसके लिए बनाते हैं? अपने खानेके लिए, तब तो अपनी याद आवेगी रोटी बनानेमें, भगवान्‌की याद काहेको आवेगी, काहेके लिए बनाते हो? पति-पुत्रादिके लिए बनाते हैं तो पति-पुत्रादिकी याद आवेगी।

तो मदीयाका अर्थ है जितनी चेष्टा अपने शरीरसे होय—चलना, हाथका हिलना, भौंहका मटकना, आँखका देखना सब उसीके लिए हो मदीया, अच्छा अब? बोले—बैठ जाओ, चार दीवाने मिलके बैठ गये बोले भक्तिकी प्राप्ति यहाँ है।

'अन्योन्यतो भागवता: प्रसज्य'—प्रसज्य है ये। भागवतकी एक और लीला है कोई श्लोक पढ़ने लगे, अभी कल-परसों हमको शास्त्रीने बताया कि पण्डित लोग श्लोक पढ़ रहे थे, तो हमको तो पहले आपने बताया था कि ऐसे पढ़ना चाहिए; तो मैं तो ऐसे पढ़ता हूँ, तो पण्डित लोग पढ़ रहे थे तो उन्होंने तीन-चार बार कोशिश की कि इस श्लोकको हम ठीक-ठीक पढ़ लें और उनसे पढ़ा नहीं गया। 'य: स्वानुभावमखिल-श्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां....' तितीर्षताम् तो है अलग तो

हमको तो गुरुजीने पहले ही बता दिया था कि बेटा इसको अतितितीर्षताम् मत पढ़ना।

रेफको अगर पूरा पूरा पढ़ोगे तब तो पढ़ना आ गया और रेफको अगर पूरा नहीं पढ़ोगे तो श्लोक अशुद्ध हो जायेगा। अब यह गुरुजीकी बतायी हुई बात है। अब हमारे पण्डित अपने आप ही भागवत बाँच लेते हैं तो उनको आता ही नहीं तो पढ़ना भी सीखना-सिखाना पड़ता है।

तो; यह जो भक्ति की जाती है यह आपको सच बतावें यह सेवा-वेवा करना लोगोंको बिलकुल नहीं आता। यह तो होते हैं प्रायः मतलबी यार; अब जो लोग रास्ता चलते हुए पाँव छूते हैं वह यह तो चाहते हैं कि पाँव छूनेका पुण्य हमको हो जाय, लेकिन इनको नाखून लगनेका हमको कोई पाप भी होगा इसका तो उनको बिलकुल कोई ख्याल नहीं होता है। अच्छा पाँव दबाने लगते हैं तो पाँवकी हम सेवा कर रहे हैं यह तो उनको ख्याल होता है पर बाल टूटनेका उनको अपराध भी लगेगा यह उनको ख्याल कहाँ होता है? अच्छा पाँव दबाना है तो कितने जोरसे इनको अनुकूल पड़ेगा यह तो उनको मालूम नहीं है तो यह जो सेवा है वह भी कोई साधारण सेवा नहीं होती है। भात बनाते हैं—कितना गला हुआ पसन्द है, कितना कड़ा पसन्द है, दालमें कितना नमक पसन्द है, मालूम तो है नहीं—सेवा करनेके लिए टूट पड़े, खीरमें ज्यादा शक्कर ही डाल दिया; ऐसा गरमा-गरम भोग लगाया कि मुँह ही जल गया।

तो सेवा करना भी अकेले नहीं आता है उसको भी चार सेवा करने वालोंके साथ मिलकर जब सीखते हैं तब वह आता है। और सेवा अपने मनकी नहीं होती, स्वामीकी अनुकूलतामें सेवा होती है। अपने मनकी अनुकूलतामें तो सेवा होती नहीं। अच्छा और किसीको यह मालूम पड़े कि हमने बड़ी भारी सेवा कर दी, तो उसने सेवा करके एक पाप कमाया। उसको सोचना चाहिए कि कितनी सेवाकी संसारमें आवश्यकता है और मैंने; जहाँ एक करोड़-एक अरब गिलाससे भी संसारकी प्यास नहीं बुझ सकती वहाँ हमारे यह जो एक गिलास पानीकी सेवा है उसकी क्या

कीमत है? यह कितनी छोटी है उसमें अभिमान करनेका तो कोई कारण ही नहीं है।

तो जब चार प्रेमी, चार भक्त मिलते हैं तब वह परस्पर एक दूसरेकी सेवाका विचार करते हैं कि कैसे, हमारे स्वामीकी सेवा कैसे होती है, उनको सुख कैसे पहुँचता है, सोनेमें सुख है, कि खानेमें सुख है, कि विश्राममें सुख है, कि काममें सुख है। बिलकुल सेवामें जो जड़ता आ जाती है वह न आवे; कि ठाकुर जी क्या करते हैं कि हर समय बाँसुरी अपने अधरों पर धारण करके दोनों हाथ ऐसे रखते हैं और बाँसुरी फूँकते रहते हैं। और आप क्या सोचते हैं भगवान्‌का यही रूप है? वह कभी अपना हाथ यहाँसे नीचे नहीं करते हैं? क्या कभी बाँसुरी मुँहसे नीचे नहीं हटाते हैं? क्या कभी मुकुट उतारकर शयन नहीं करते हैं? और घड़ीके इतने पराधीन हैं कि जब हम अष्टयाम करेंगे तो इतने कालसे इतने काल तक यही सेवा होनी चाहिए? भगवान्‌में किसी तरहका स्वातन्त्र्य नहीं है? बिलकुल पराधीन हो गये हैं? तो इसका अर्थ यह है कि भागवत पुरुषोंको अपने भावकी परीक्षा करनेके लिए; भागवत माने भगवान्‌के भक्त, भगवान्‌के प्रेमी, तो प्रेमी लोग जब मिलकर आपसमें चर्चा करते हैं तो उस चर्चासे यह बात निकलती है कि भगवान्‌का स्वभाव ऐसा, भगवान्‌का रूप ऐसा भगवान्‌का गुण ऐसा—

'अन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य' इसीलिए 'परस्परानुकथनं पावनं भगवद् यशः' परस्पर भगवान्‌के यशका अनुकथन करना। और 'स्मारयन्ति च' खुद स्मरण करते हैं और स्मरण कराते हैं।

देखो, श्रीकृष्ण जब चले जाते हैं वनमें गो-चारणके लिए तब गोपी क्या करती हैं? वेणुगीत चलता है, जब चले जाते हैं तब युगलगीत होता है। जब उद्धवजी आते हैं तब भ्रमरगीत होता है। जब विरह होता है तब गोपी गीत होता है। तो इस तरह जो भक्त होते हैं वह—'अन्योन्यतो भागवताःप्रसज्य'—प्रसज्य माने परस्पर प्रेम प्रसंजन और प्रसंजनसे ही प्रसंग शब्द बनता है। प्रसज्यते माने जो गुरुसे आसक्त हो गया जो अपना श्रृंगार करके परमेश्वरसे मिलने योग्य अपने आपको बनाता है। उसका नाम

सज्जन है। सज्जन कौन हैं ? जो आँखके काजल और बालका नहीं, अपने दिलका ऐसा शृंगार करता है कि इसमें भगवान्‌को लीला करना है, उसका नाम सज्जन है।

तो अन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य—दूर-दूरसे इकट्ठे हो जाते हैं अन्योन्यतो; और यह नहीं कि एकके ही घरमें सब जाय, वह उनके घरमें जाते हैं, वह उनके घरमें जाते हैं, वह उनके पास जाते हैं वह उनके पास जाते हैं और प्रसंग जो है 'सभाजयन्ते मम पौरुषाणि'—भगवान्‌के जो पुरुष चरित्र हैं, पौरुषयुक्त चरित्र हैं जिसमें उनका बल पराक्रम सब प्रकट होता है। उनका प्रेम, प्रेममें भी बल होता है।

एक हमारे भक्त हैं, स्त्री भक्त हैं उन्होंने एक चित्र बनाया है। चित्र अभिसारका बनाया है। एक गोपी समझो भगवान् श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए जा रही है, रात्रिका समय है। उसकी पोशाक, उसकी चाल और उसके पाँवके नीचे साँप और जंगल उसमें चित्रित किया है। तो उसे भारतका सबसे बड़ा पुरस्कार जो है ललितकलाका, चित्रकलाका सबसे बड़ा पुरस्कार उसको इस बातपर मिला है, तो 'सभाजयन्ते मम पौरुषाणि' यह प्रेमका बल है।

स्वयं भगवान् भी अपने प्रेमीसे मिलनेके लिए आतुर रहते हैं, इसमें बड़ी अद्भुत लीला है। भगवान् एक है पर जब रसको प्रकट करना होता है तब दो होकर प्रकट हो जाता है और जब दोनोंको स्वयंमें ही रस लेना होता है तो एक हो जाते हैं उस समय भी भगवान्‌के परिकरके जो लोग हैं सखी हैं, वह युगल सरकार नित्य निकुंजमें जब रसानुभूति रसोल्लासमें मग्न हैं तो बाहर बैठकर क्या करते हैं ? उनकी चर्चा ही तो करते हैं।

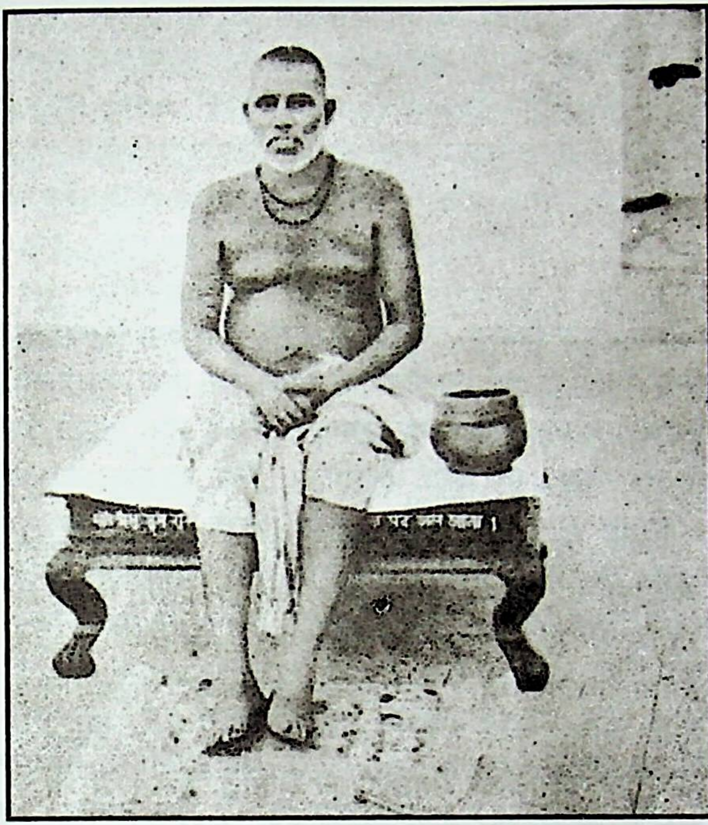
तो, भक्तिमें भगवद् विषयक चर्चा होनी चाहिए। एकको वक्ता बनाकर तुम सुनो, स्वयं वक्ता बनकर दूसरेको सुनाओ। अपने मनमें गुनगुनाते रहो। यह भक्ति जो है यह भक्तोंके संगसे बढ़ती है, यह इसकी महिमा है और धर्मानुष्ठान जो है वह शाश्वत धर्म, शाश्वत वचनकी प्रामाणिकतासे बढ़ता है। जितनी वेदमें श्रद्धा होगी उतनी जीवनमें श्रद्धा

होगी, अगर वेदकी श्रद्धा उठ जायगी और यह सत्य-अहिंसाकी लोग जुबानसे तो तारीफ करते रहें तो क्या सत्य-अहिंसा उनके जीवनमें रहेंगे? सत्य-अहिंसाको भी जीवनमें आनेके लिए वाहन चाहिए। तो यदि क्रियात्मक धर्म नहीं रहेगा तो यह सत्य-अहिंसा आदि जो हैं यह वाहन शून्य होनेके कारण जीवनमें नहीं रहेंगे और भक्तिमें चाहिए भक्तोंकी सोसायटी, भक्तोंकी कम्पनी, योगमें चाहिए एकान्त और तत्त्वज्ञानके लिए चाहिए सद्गुरु और एक बार महाराज जब तीव्र जिज्ञासाका उदय हुआ और सद्गुरु मिल गया, प्रत्यक्ष सद्गुरु इसको वक्तगुरु बोलते हैं। प्रत्यक्ष सद्गुरु यदि मिल गया तो वह तत्काल ज्ञान करा देगा और नहीं तो जिस गुरुके बारेमें आपका यह विश्वास है कि यह सचमुच ब्रह्मनिष्ठ तत्त्वनिष्ठ सद्गुरु थे। तो वे उपदेश क्या करते थे? उनके वचनोंके द्वारा, क्योंकि उनके वचन भी वैदिक वचन ही थे, वेदानुसारी वचन ही थे। इसलिए उनके उपदेशोंके स्मरणसे और उनके उपदेशोंके उदयसे कालान्तरमें तत्त्वज्ञान हो सकता है और परोक्ष आचार्योंके प्रति भक्ति होनेसे भी कालान्तरमें भक्तिका उदय हो सकता है।

पर वह मार्ग लम्बा है और यदि जीवनकालमें ही कोई सच्चा भक्त, सच्चा ज्ञानी मिल जाय तो वह तत्काल ही जैसे एक दीयेसे दूसरा दीया संजो देते हैं, इस तरहसे तो हमारे हृदयमें प्रेमका दीपक प्रज्ज्वलित हो जाय और तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाय।

असलमें भक्तिका मार्ग जो है वह भावकी प्रधानतासे, ज्ञानका मार्ग विचारकी प्रधानतासे, सृष्टिकी प्रधानतासे यह भौतिक विज्ञान, दृष्टिकी प्रधानतासे यह तत्त्वविज्ञान और आनन्दरसकी प्रधानतासे भक्तिका विज्ञान। यह बिलकुल मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं और यदि हम ठीक-ठीक इनके रास्ते पर चलें तो फिर यह मनोवैज्ञानिक नहीं रहेंगे, ये तात्त्विक, पारमार्थिक और सत्य वस्तुके अनुभवके रूपमें प्रकट होंगे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!



जावन्मुक्तावाशष्टा बतावगतवपुमुक्तारष्टातपृष्टः,
सुस्पष्टं योन्वगृह्लाद् उभयमपि मृषा सादितासान्तताभ्याम्।
मोहापायोपलक्ष्यः स्वयमयमभयो मुक्तिरात्मैव नान्या,
पूर्णानन्दाय तस्मै प्रणिहितमनसा संदधेऽहं नमांसि॥

स्वर्णस्वर्णप्रभाभिः श्रुतिहृदयनभोव्यापिनीभिर्मनोज्ञा,
भावाभावप्रभावोज्झितहितमणिभिर्विस्फुरद्भिः प्रपूर्णा।
श्रीपूर्णानन्दतीर्थागमनिगम - रसोल्लास - सम्पन्निधानी,
मञ्जूषा काऽपि वाणी मम मनसि मनाङ् मन्दिरे चाकसीतु॥

(10)

यह पूछने पर कि जीवन-मुक्ति श्रेष्ठ है अथवा विदेहमुक्ति? श्रीमहाराजने स्पष्ट अनुग्रह किया कि दोनों ही मिथ्या हैं, क्योंकि दोनों ही आदि-अन्तवाली अनित्य हैं। अज्ञानके विनाशसे उपलक्षित आत्मा ही मुक्ति है और कुछ मुक्ति नहीं है। ऐसा लोकोत्तर उत्तर देनेवाले श्रीपूर्णानन्दतीर्थजी महाराजको एकाग्र मनसे मैं बार-बार नमस्कारकर ध्यान करता हूँ॥

सुवर्णके समान चमकते हुए वर्णोंसे श्रुति हृदयरूप आकाशमें झिलमिल-झिलमिल अपनी सुन्दरताको फैला रही है। भावाभावके प्रभावसे मुक्त हितरूप मणियोंसे परिपूर्ण है। श्रीपूर्णानन्दतीर्थके आगम-निगम रूप रसोल्लास सम्पदाका निधान है। यह कल्याणदायिनी निर्वाणप्रकाशिका वाणी रूप मञ्जूषा मेरे मन-मन्दिरमें जगमग-जगमग प्रकाशती रहे॥

(10)

वृन्दावनमें एक बड़ी संस्था है गुरुकुल, इसका कभी-कभी होता है वार्षिकोत्सव। एक बार यहाँ वार्षिकोत्सव था तो आर्य समाजके बड़े-बड़े विद्वान् और उसके अनुयायी दूर-दूरसे आये हुए थे। हमारे महाराजजीका सत्सङ्ग प्रायः प्रातःकाल होता था। कभी मेरे जिम्मे बोलनेका काम होता, कभी श्रीहरि बाबाजी महाराज बोलते। और कभी-कभी महाराजजी स्वयं शंकरानन्दी गीता लेकर बैठ जाते और कुछ सुनाते, पढ़ते तो कम थे, पुस्तक सामने रहती थी बोलते जो मनमें आता सो ही, तो जो गुरुकुलके विद्वान् आये थे दर्शन करने। उन्होंने पूछा—महाराज! गुरु बनानेकी क्या आवश्यकता है? आप जानते हैं आर्यसमाजमें तो यह उनका मौलिक प्रश्न है। माने उनके इस अनादि प्रश्नका समाधान नहीं है। तो महाराजजीने उनसे उल्टा प्रश्न किया बोले—'तुम मुझसे क्यों पूछ रहे हो?' तो उन्होंने कहा महाराज जानकारी प्राप्त करनेके लिए, तो उन्होंने कहा अबतक जो जानकारी तुम्हें प्राप्त है उसमें कुछ संशय होगा तभी न हमसे अपनी जानकारीकी पुष्टि करवाना चाहते हो? कहा—महाराज! आप कह देंगे तो निर्णय हो जायेगा, तो बोले—बस यहीं तो गुरुकी आवश्यकता है।

जीवनमें फिर मनुष्य अपने आप कुछ इधरकी कुछ उधरकी छिटपुट हजारों बातें सुनता रहता है। हजारों अधिकारीके लिए हजारों प्रकारके शास्त्र वचन हैं और साधनाके एक-एक मार्गको दिखाने वाले

हजारों ऋषि हैं उसमें हमारे लिए कौन-सा ठीक है यह हम अपनी बुद्धिसे निर्णय करना चाहें तो कुछ-न-कुछ दुविधा बनी रहेगी। इसलिए इसमें सद्गुरुकी आवश्यकता है कि वह हमारी बुद्धिकी दुविधा मिटा करके और एक साधनमें, एक भजनमें, एक पद्धतिमें हमको निष्ठावान बना दे। तो यह तो शायद आप सब लोगोंको मालूम नहीं होगा मैं जन्मसिद्ध गुरु हूँ, माने हमारे पिता भी गुरु, हमारे पितामह भी गुरु, आठ पीढ़ी तो मैं जानता हूँ अपनेसे पहलेकी, उनका नाम हमको मालूम है। अब आजकलके बच्चोंमें अपनी आठ पीढ़ीका नाम किसको मालूम है जरा याद करके देखें हमको अपनी आठ पीढ़ीका नाम मालूम है। तो जब मैं मन्त्र दीक्षाके लिए अपने सद्गुरुके पास गया तो उन्होंने कहा कि ठहरो हम थोड़ा विचार करके तब तुमको मन्त्र देंगे। इसमें विचारकी क्या आवश्यकता है? वह बोले देखो अनादिकालसे अबतक तुम संसारमें जन्मते रहे हो, शरीर छोड़ते रहे हो, अबतक कभी तुम्हारी मुक्ति हो गयी होती तो आज शरीरधारी नहीं होते, तो तुमने पूर्व-पूर्व जन्ममें साधनाएँ तो की होंगी जरूर, पुण्य किये होंगे, धर्म किये होंगे मन्त्र जप किये होंगे, इष्टदेवकी आराधना की होगी और उन सबके संस्कार होंगे। तो जिस अविच्छिन्न संस्कारके बाद तुम्हारा इसके पहले वाला शरीर छूटा है और यह नवीन शरीर मिला है यदि हम ध्यानकरके वही इष्ट, वही मन्त्र, वही साधन-पद्धति तुमको बता देंगे तो तुम्हारे जीवनमें तुरन्त वह उदय हो जायगी और कार्यशील हो जायगी और अपना क्रियाकलाप प्रारम्भ कर देगी, यदि हम बहुत आगेकी बता देंगे तो उसमें तुम्हारा मन नहीं लगेगा; और बहुत पीछेकी बता देंगे तो झट उसको तुम पार कर जाओगे, इसलिए जहाँसे छूटा है वहींसे अगर कड़ी जुड़ जाय और ठीक-ठीक साधना प्रारम्भ हो जाय तो तुम्हारी साधना इस जीवनमें बहुत जल्दी आगे बढ़ेगी। एक साधनाका सिद्धान्त आपको बताया। सबके अन्तःकरणमें एक संस्कार होता है और जबतक जीवकी मुक्ति नहीं हो जाती तबतक उस संस्कारकी धारा बहती रहती है, और उसके साथ जीवका सम्बन्ध बना रहता है।

अच्छा! आपको अपनेसे अधिक बुद्धिमान कोई मालूम पड़ता है कि नहीं, अगर नहीं मालूम पड़ता है तो आप जैसा अभिमानी दुनियामें कोई नहीं, यह आपके लिए अलिखित धर्मानन्दका धर्मधुरीनका टाईटिल है आपके लिए कि आपका अभिमान इतना ज्यादा बढ़ा हुआ है कि आप अपनेसे अधिक बुद्धिमान किसीको नहीं समझते। दूसरी बात यह है कि आपका कोई सच्चा हितैषी संसारमें है कि नहीं है? यदि आपका सच्चा हितैषी संसारमें कोई नहीं है आप जैसा अनाथ, असहाय, लावारिस भी दुनियामें कोई नहीं है; यदि आपका सच्चा हितैषी कोई नहीं है संसारमें तो आप कहाँ भटकेंगे, कहाँ जायेंगे, कहाँ गिरेंगे इसका कोई ठिकाना नहीं है आप दुनियामें बिलकुल अकेले पड़ गये हैं।

एक तीसरी बात देखो! आपकी दृष्टिमें संसारमें आज कोई महात्मा है कि नहीं है? कोई निर्दोष है कि नहीं? तो यदि आप ऐसा मानते हैं कि पहले जमानेमें तो महात्मा हुआ करते थे और निर्दोष हुआ करते थे; परन्तु आज कोई नहीं है। तो आज अगर कोई नहीं है तो आप अपने जीवनमें निर्दोष होनेकी और महात्मा होनेकी आशा बिलकुल छोड़ दीजिए। क्योंकि जब कोई नहीं है तो आप कहाँसे होंगे? सातवें आसमानसे टपक पड़ेंगे? जब कोई है ही नहीं है महात्मा, तो आप कैसे हो जायेंगे? इसलिए आप अपनी श्रद्धाको तौलिये। कोई आपसे अधिक बुद्धिमान हो तो उससे सलाह लीजिए। आपका कोई हितैषी हो तो उससे अपने सुख-दुःखकी बात निवेदन करके अपने हितकी शिक्षा ग्रहण कीजिये। यदि कोई निर्दोष हो तो उसका संग करके आप भी निर्दोष बनिये, यदि कोई भगवान्को प्रास पुरुष होवे, प्रास परमेश्वर कोई पुरुष होवे तो आप भी परमेश्वरको प्रास कीजिए। यदि आप झूठ-मूठका अहंकार करेंगे तो कांदिशीक हो जायेंगे, भटक जायेंगे।

मैंने एक बार महाराजजीसे पूछा कि ये सिद्धि-सिद्धि लोग कहते हैं, उनकी सिद्धियोंके बारेमें भी तो बहुत ही प्रसिद्धि थी। और प्रसिद्धि ही नहीं थी, ईश्वर कृपासे हम लोगोंने अपने जीवनमें अनेक बार उसका

अनुभव किया था। जो काम बिना सिद्धिके नहीं हो सकता वह हमने देखा था। तो उनसे पूछा कि महाराज! यह सिद्धि क्या है आप बता दीजिये। तो बात तो ऐसी है कि यदि आप उसको सुन लें और मान लें और कर लें तो आप भी सिद्ध हो जायेंगे। पर भरी सभामें बतावें कि न बतावें? अच्छा भाई! सबकी राय है कि हम बता दें पर बतानेके बाद आप यह मत कहना कि यह बहुत हल्की-फुल्की बात है, इसमें कोई बात नहीं। एक दम हल्की-सी चीज है। उन्होंने कहा कि 'बरदाश्त करना ही सिद्धि है।' यह उनके मुँहसे बरदाश्त शब्द ही निकला था; न सहिष्णुता न तितिक्षा; उन्होंने कहा 'बरदाश्त करना ही सिद्धि है।' यह बात बतायी थी! हाँ सहन शक्ति!

हाँ तो इसका विवरण भी लो। उन्होंने कहा लोगोंको खाने-पीनेकी, रोटी- कपड़ेकी बहुत दिक्कत होती है इसके लिए क्या-क्या अन्याय नहीं करते, हम तुमको बता देते हैं। तुम किसी अनजानसे अनजान गाँवमें चले जाओ, जिसको कभी देखा नहीं, जहाँके लोग तुमको कभी देखे नहीं, जाकर गाँवके बाहर किसी पेड़के नीचे बैठ जाओ। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, न किसीसे रोटी माँगो, न किसीसे पानी माँगो। भूख और प्यासको, गरमी और सर्दीको बरदाश्त करो, और तुमको वह सिद्धि मिलेगी।

बहुत फिक्र करते हैं वह चीज इतनी आसान है, इतनी आसान है कि हम गर्मी-सर्दी सह लें, भूख-प्यास सह लें। महाराज एक श्लोक बोलते थे—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं स्वयं बोलते थे 'हिंसा वेगं उदरोपस्थवेगं एतान् वेगान् सहते यस्तु विद्वान् निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्' मनमें किसीको भला-बुरा कहनेकी आवे—रोक लो, मनमें किसीकी बुराईका चिन्तन आवे—रोक लो, भूख प्यास आवे, कामका वेग आवे रोक लो, इन वेगोंको भीतर ही पचा लो। यह पहले तो जहर होकर आते हैं, बड़े कड़वे बनकर आते हैं, परन्तु जब ये पचा लिये जाते हैं तो इनका जो रसायन बनता है शरीरमें वह अमृत हो जाता है। समुद्र मन्थनके समय पहले

निकलता है विष, पर उसीको जब शंकरजी पी लेते हैं तो वह अमृत हो जाता है।

एक बात इसमें मुख्य यह है कि उनका कहना था कि 'निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्' दुनियामें चाहे कोई कितनी भी निन्दा करे, उस निन्दाकी चोट अपने दिल पर नहीं लगनी चाहिए। सबसे बड़ा महात्मा वह है कि जो अपनी निन्दा सुनकर अपने दिलको घायल होनेसे बचा लेता है।

यदि आपके हृदय पर निन्दा चोट नहीं पहुँचाती तो बस समझ लो कि आप महात्मापनके बहुत निकट पहुँच गये हो। संसारकी कोई वस्तु हमारे दिलको घायल न करे।

आपको, वैसे तो हम बहुत बात बता सकते हैं; अभी जबसे महाराजजीका यह उत्सव प्रारम्भ हुआ तबसे कुछ-न-कुछ उनके बारेमें सुनाते ही रहे हैं। आपको मालूम हो, न मालूम हो, यहाँके रहने वालोंको बहुतोंको तो मालूम ही है कि मैं रोज उनके साथ बैठकर भोजन करता था। वह चाय पीते, उन दिनों तक हमको बम्बईकी हवा नहीं लगी थी तो हम चाय-काफी नहीं पीते थे, दूध पीते थे। बम्बईमें लोगोंने कहा कि यहाँ दूध मट्ठा अनुकूल नहीं पड़ेगा चाय पीओ, अनुकूल पड़ेगा।

तो उनके साथ बैठकर दूध पीता था, उनके साथ बैठकर भोजन करता था शामको भी, सुबहको भी, दिन भरमें छः-आठ मरतबा तो उनके पास बैठनेका मौका मिलता ही था। जिस दिन महाराज बढ़िया भोजन बनाकर उनके सामने परसा जाता था अब वह इधर-उधर देखते कि यह तू ले बेटा, यह तू ले बेटा, बाँटने लग जाते थे। कोई कहता महाराजजी आप भोजन क्यों नहीं करते हैं? कहते—बेटा, इतना बढ़िया भोजन देखकर हमारी तो तृप्ति हो गयी अब भूख रही नहीं। जिस दिन बढ़िया भोजन पकता है उस दिन हमारी खानेकी इच्छा ही नहीं होती है। वह दूसरोंको खिला देते थे, बढ़िया भोजन स्वयं नहीं करते थे यह हमने देखा था। रातको जब सब लोग सो जायँ तो चादर ओढ़ाकर जाते थे, दूसरे लोग ओढ़ाते थे और जहाँ वह गये वहाँ ओढ़ने वाला वस्त्र

फेंका और उठकर सिद्धासनसे बैठ गये। रात-रात भर बैठे रहते थे। हमारे वेदान्तियोंमें बड़ी चर्चा होती। हम लोग जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति इनको बहुत महत्व नहीं देते थे। उस समय ऐसी तीव्रता थी जिज्ञासामें कि हमको तो ब्रह्मज्ञान होना चाहिए, हमको जीवन्मुक्ति नहीं चाहिए, हमको विदेह मुक्ति नहीं चाहिए। कभी-कभी तो महाराज जोशमें आकर ऐसे बोल दें कि हम हमेशाके लिए नरकमें रहनेको तैयार हैं; परन्तु हमको सत्यका ज्ञान होना चाहिए, हम सत्यके जिज्ञासु है हम ज्ञानके जिज्ञासु हैं। ज्ञान होने पर अगर नरकमें रहना पड़े तो हम रहेंगे और बिना ज्ञानके हमको स्वर्गमें जाना हो तो नहीं जायेंगे, हमको तो तत्त्वज्ञान चाहिए।

तो, यहाँ ब्रह्माकार वृत्तिकी बड़ी चर्चा चलती थी। हमारे जितने वेदान्ती लोग हैं वे कहते उनमें एक मैं भी था, तत्त्वज्ञान होने पर ब्रह्माकार वृत्तिकी कोई जरूरत नहीं है। एक बार अज्ञान निवृत्त हो गया फिर कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं, केवल अज्ञानकी निवृत्ति चाहिए। तो हमारे एक मित्र जीवित हैं, उन्होंने एक दिन बड़ा ही जोर लगाया, बोले कि बाबा आप ब्रह्माकार वृत्ति करनेको कहते हैं अब तो हमको ब्रह्मज्ञान हो गया अब हमको वृत्ति बनानेकी क्या जरूरत है ? तो क्या मीठा विनोद करते थे कभी-कभी बोले—'बेटा, अब ब्रह्मज्ञान हो गया अब वृत्ति बनानेकी जरूरत नहीं है तो ब्याह कर ले।'

महाराज कहते थे मान लिया कि ज्ञान हो गया, अज्ञानकी निवृत्ति हो गयी वह जो स्वरूप ज्ञान है वह तो वृत्ति रूप भी नहीं है और अविद्याका निवर्तक भी नहीं है, वेदान्तका जो महावाक्य है— महावाक्य-जन्य जो ब्रह्माकार वृत्ति होती है वह अविद्याको निवृत्त करती है और अविद्याकी निवृत्ति होनेके साथ ही साथ, यह नहीं कि एक क्षण आगे कि एक क्षण पीछे। अविद्या निवृत्तिके समकाल ही विद्या वृत्ति बाधित हो जाती है, अविद्या भी बाधित ही होती है, विद्या भी बाधित ही होती है और युगपत् दोनोंका बाध होता है। एक क्षणच्छेदेन दोनोंका बाध होता है। तो अब क्या करोगे? बोले—देखो!

भाई यदि ब्रह्माभ्यास नहीं करोगे, ब्रह्माकार वृत्ति नहीं करोगे तो भले तुम्हारा ज्ञान रहे, तुम्हारी मुक्ति रहे, परन्तु साधु जीवन नहीं रहेगा। तुम्हारा जीवन साधुतामय नहीं हो सकता यदि निरन्तर अभ्यास नहीं करोगे। जरा भक्तोंके लिए समझनेमें यह बात सुगम हो जाय इसके लिए बोलता हूँ कि नामकी डोर बड़ी लम्बी है। यह तो आप देशमें रहो, परदेशमें रहो, विदेशमें रहो, स्वर्गमें रहो, नरकमें रहो यह आपकी जीभपर नाचता रहेगा। नाम रहता है आपकी जीभपर। तो यह तो धाम है न धाम जहाँ आप बैठे हुए हैं। यह देश-विदेश- परदेशमें आपके साथ नहीं जायेगा यह बात पक्की है लेकिन इसको आप पुकारो, मत पुकारो, याद करो न करो, स्मरण हो विस्मरण हो यह आपको अपनी गोदसे नहीं उतारेगा नाम बड़ा कि धाम बड़ा? अरे—

को बड़ छोट कहत अपराधू।
सुनि गुन दोष समुझहिं साधू॥

यदि आप धाममें रहें और भगवान्‌के रूपका ध्यान न आवे, उनके गुणोंका चिन्तन न हो, उनके नामको न पुकारें तब भी धामकी रजमें आपके शरीरका रज मिल जायेगा और धाम आपको अपने आपमें मिला लेगा, आप स्वयं भगवान्‌के धाम बन जायेंगे और यदि नामकी रस्सी, नामका गुण, असलमें भगवान्‌में और कोई गुण है कि नहीं है वह तो भक्त लोग जानते ही हैं। उनके गुणोंके साथ भक्तोंका बहुत ज्यादा सम्बन्ध पड़ता है, परन्तु नाम जो है—**तस्य नामानि दामानि च**। वेद भगवान्‌का कहना है कि भगवान्‌का नाम ही दाम हैं। दाम माने रस्सी, रज्जु, दाम+उदर। दामोदर। नाम ही दाम है। आप नाम लेते हुए चाहे जहाँ चले जाइये, आपका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ बना रहेगा, और वह आपके साथ भगवान्‌को खींचकर ले आवेगा। नाममें यह सामर्थ्य है।

और एक बात कई लोगोंको मालूम है, भगवान्‌में जैसे सब शक्ति रहती है वैसे ही एक मोह शक्ति भी भगवान्‌में है, मुग्धा शक्ति वह क्या करती है? कभी-कभी भगवान्‌से भूल हो जाया करती है, डरना नहीं अगर भूल भगवान्‌में न होती तो भूल नामकी चीज दुनियामें कभी बनती

ही नहीं। इसके भी अभिन्ननिमित्तोपादान कारण भगवान् ही हैं। भले वेदान्ती लोग उसको विवर्ती कहें और भक्त लोग परिणामी कहें लेकिन; जो भूल है ना इसके भी अभिन्न निमित्तोपादान कारण माने भूल बनानेवाले भी और भूल बननेवाले भी, भूल बनने वाली मृत्तिका माटी मैटर भी वहीं हैं और भूल बनानेवाले कुम्हार भी वही हैं। तो उनके अन्दर एक भूलकी शक्ति रहती है। आपने उसका नमूना देखा होगा। अजामिलने अपने बेटेका नाम लेकर पुकारा और भगवान्ने अपने पार्षदोंको कहा अरे! मेरे नामकी आवाज आयी है जरा दौड़ो तो, देखो। तो पार्षदोंने कहा महाराज वह आपका नाम नहीं ले रहा है वह अपने बेटेका नाम ले रहा है, तो भगवान्ने कहा, वाह उसने हमारा नाम लिया है। पार्षदोंने कहा—वह तो आपको जानता ही नहीं महाराज! तो बोले—मुझको वह नहीं जानता है यह उसको मालूम नहीं है कि नारायण किसका नाम है; लेकिन हमको तो मालूम है न कि नारायण किसका नाम है, तुम लोग बेवकूफ हो, हम जानते हैं कि वह हमारा नाम ले रहा है।

सो महाराज अपना नाम सुनकरके भगवान्की भूल ऐसी जगी, यह मुग्धा शक्ति है, वे भूल गये सब वेद, शास्त्र, पुराणको, भूल गये मनु-स्मृतिको—भागवत धर्म इसका नाम है।

बड़े-बड़े महापुरुष इस रहस्यको नहीं जानते हैं—भगवान्का जब कोई नामोच्चारण करता है तो भगवान् भूल जाते हैं कि इस नामका कोई दूसरा भी है। एक तो भगवान्को यही ज्ञान नहीं है—यह ज्ञान नहीं है कि अज्ञान है क्या? कि मेरे सिवाय दूसरा कोई है, यह ज्ञान भगवान्को है ही नहीं।

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।'

एक तो भगवान् जानते हैं कि मेरे सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं और फिर यह नाम किसी दूसरेका है मेरा नहीं है, यह काम तो भगवान्को कभी आता ही नहीं है, इसलिए महाराज यह भगवान्की भूल है। पर; एक बात है—बाबा इसके सम्बन्धमें बड़ी बात बताते थे, माला झोली तो हम सब

लोग भी रखते हैं। वह कहते थे कि देखो बड़े आदमीसे चौबीस घण्टेमें अगर एक बार भी डटाडट हाथ मिला लिया जाय, तो गौरव बना रहता है। हमारे गाँवके एक सज्जन थे उन्होंने पंचम जार्जसे हाथ मिलाया था और बुढ़ापेमें, महाराज, हम लोगोंको कुछ समझते ही नहीं थे, कहते थे तुम क्या होते हो? हमने पंचम जार्जसे हाथ मिलाया है। एक बार मिलाया होगा बस!

एक बात आपको सुना देते हैं, आप भगवान्‌का नाम लेते हैं, भगवान्‌के धाममें रहते हैं, सत्संग करते हैं, महात्माओंसे मिलते हैं और फिर यह भी समझते हैं कि मैं बड़ा भारी पापी हूँ, विनयकी दृष्टिसे बहुत अच्छा है आपमें दीनताका भाव है, परन्तु भगवान्‌का नाम लेनेके बाद, भगवान्‌के धाममें आनेके बाद, महाराज हमारे महाराजजीकी दृष्टि एक बार पड़नेके बाद, 'तद्दृष्टि गोचरा सर्वे मुच्यन्ते'—उनकी नजरमें जो एक बार आगया वह मुक्त हो गया। उन्होंने स्पष्टम् स्पष्टम् कहा, रजिस्टर कोई नहीं था उनके पास, पर बोलते ऐसे थे कि हमारे रजिस्टरमें जिसका नाम लिख गया वह मुक्त हो गया, अब उसके लिए बन्धन नहीं है, ऐसा उन्होंने कहा है।

हमने पूछा—महाराज! विदेह मुक्ति बढ़िया कि जीवन्मुक्ति बढ़िया? तो बोले कि दोनोंकी कल्पना ही अमंगल है। मरनेके बाद जीवन्मुक्ति होगी कि विदेह मुक्ति होगी यह कल्पना ही मत करो। समझ लो परमात्मा उल्लसित हो रहा है रसोल्लास हो रहा है। नाच रहा है। 'एजति'का अर्थ है क्या ठुड्डी हिल रही है क्या भौंह हिल रही है। 'एजति' माने 'कँपता है' होता है। क्या कमर हिल रही है, 'तदेजति तन्नेजति' क्या स्थिर बैठा हुआ है—'तद्दूरे'—वह ही गया दूर वह नाचता हुआ वह दूर गया, 'तद्वन्तिके'—नाचता हुआ पास आगया, 'तदन्तरस्य सर्वस्य'—इस गोपी मण्डल मध्यमें वही नृत्य कर रहा है।

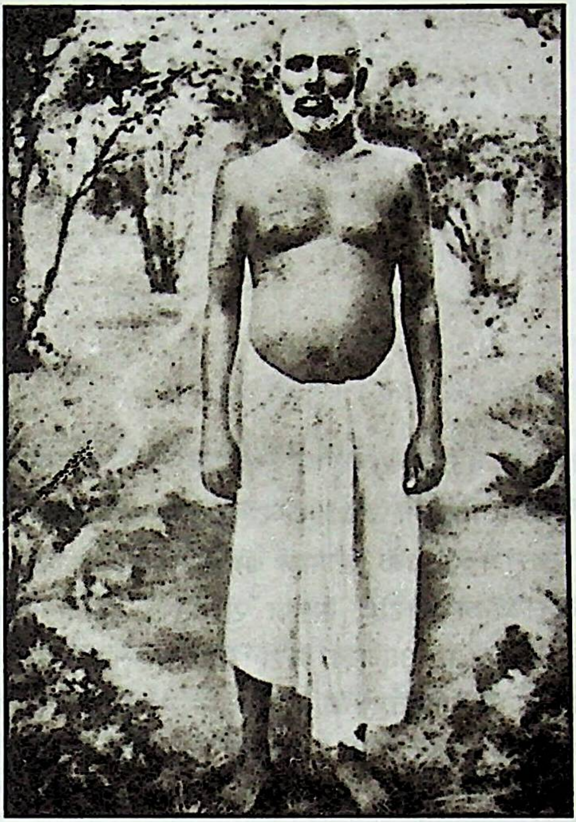
अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो

माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना

तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः

वही बाहर-वही भीतर, वही दूर-वही निकट, वही कम्पनशील-वही अकम्पन, वही अस्पन्द, वही सस्पन्द-वही निस्पन्द यह जो परमात्माका स्वरूप है, वह सब वेद-शास्त्र-उपनिषद्-पुराण इतिहासका मन्थन करके उसका जो सार-सार होता है, नवनीत होता है वह उन्होंने प्रगट किया है और अभी तो मैं समझता हूँ कि यह प्रसंग यह हमारे निश्चलानन्दजी महाराज तो प्राय: यहीं विराजते हैं इनका सत्संग तो रोज होता ही रहता है और भी कई महात्मा हैं जिनका रोज कथा-प्रवचन होता है, मैं भी अभी जबतक डोंगरेजी वृन्दावन रहनेका संकल्प रखेंगे तबतक मैं भी रहूँगा सो आप लोग जैसे आज आये हैं वैसे ही आवें कल प्रात: काल रास भी होगा। विद्वानोंका विद्यार्थियोंका सत्कार करनेवाले हैं डोंगरेजी, वे लोग भी पधारेंगे तो आप लोग इसी तरह बड़े प्रेमसे यहाँके कार्यक्रममें भाग लेते रहिये।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति: !



वैकुण्ठः केन दृष्टः श्रवणपथगतः स्वप्नवद् भाति चित्ते,
तद्वृत्तीनां निरोधः सहजशयनवत् तत्र को वा प्रमोदः।
प्राक्प्रत्यग्भावमुक्तं तदिदमहमिति ब्रह्म पूर्णं नचान्यत्,
पूर्णानन्दोपदेशो दिशि विदिशि सदामङ्गलं देदिशीतु॥

अखण्डानन्दसम्बोधपूर्तये ब्रह्ममूर्त्तये।
सुधास्मितसमाश्लिष्टनेत्रान्तस्फूर्तये नमः॥

(11)

'वैकुण्ठ किसने देखा है? वह तो केवल सुना हुआ है और चित्तमें स्वप्नके समान भासता है। योगके द्वारा चित्तवृत्तियोंका निरोध सहज सुषुप्तिके समान ही है। उसमें कौन-सा आनन्द धरा है? आन्तर और बाह्य भावसे रहित एवं वह, यह तथा मैं-के रूपमें भासमान केवल पूर्ण ब्रह्म ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है।' श्रीपूर्णानन्दतीर्थजीका यह उपदेश प्रत्येक दिशा एवं विदिशामें सदा मङ्गलका विस्तार करे॥

वे अखण्डानन्द-बोधकी सम्पूर्ति हैं। ब्रह्मकी मूर्ति हैं। सुधाभरी मुस्कानसे समाश्लिष्ट उनके नयनकोण छलकते रहते हैं। गुरुदेव श्रीपूर्णानन्दतीर्थको नमस्कार है॥

॥ इति श्रीमत्स्वामि-अखण्डानन्द-सरस्वती-विरचित-
गुरुदेवश्रीपूर्णानन्दतीर्थस्तवः विश्रामः॥

(11)

श्रीरामानुजाचार्यके सम्प्रदायमें क्रियायोग होता है। केवल क्रिया तो रुई बनानेमें भी होती है, और कपड़ा बनानेमें भी होती है, चावल बनानेमें भी होती है, झाड़ू लगानेमें भी होती है, परन्तु जो क्रिया हो वह परमेश्वरके लिए हो। सर्वान्तर्यामी, सर्वशरीरी, सर्वज्ञ, परमेश्वरके लिए हमारी क्रिया होने लगे तब उसका नाम क्रिया योग होता है।

क्रिया होती है बाहर और योग होता है भीतर और दोनों मिलकरके हमारी जो चित्तवृत्ति है उसको नारायणमें खींच लेते हैं तो जब यह क्रिया योग होता है तब ईश्वर कैसा है? सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति है, अन्तर्यामी है, नियन्ता है और फिर धीर-धीरे उसकी शरणागति हो जाती हैं और शरणागति हो जानेके बाद फिर क्रिया योगकी अपेक्षा नहीं रहती है, उससे मुक्ति होती है।

इसी तरह श्रीवल्लभाचार्यजीके सम्प्रदायमें पहले मर्यादा मानी जाती है और फिर पुष्टि मानी जाती है। क्रिया योग और शरणागति यह रामानुजाचार्यका मत है और मर्यादा और पुष्टि यह वल्लभाचार्यजीका मत है। तो उनके यहाँ भी पहले ये मर्यादा लोग जो होते हैं वह महाराज इतना अपरस मनाते हैं, इतना स्नान करते हैं। दूसरेका लाया हुआ पानी नहीं पीते हैं। जिसको कण्ठी न हो और जिसने संस्कार अपना न कराया हो उसका

छुआ पानी नहीं पीते हैं। बड़ी-बड़ी तपस्याएँ करते हैं, अपने हाथसे रोटी बनाते हैं, अपने हाथसे कुएँसे पानी लाते हैं और यह हम भगवान्‌की सेवाके लिए कर रहे हैं—पहले मर्यादी बनते हैं, फिर पुष्टिको वे स्वीकार करते हैं और हम भगवान्‌के शरणमें हैं, इससे व्यक्तिके अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। समाजसेवा दूसरी वस्तु होती है, और व्यक्तिके अन्तःकरण शुद्धिकी प्रक्रिया दूसरी होती है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायमें एक वैधी भक्ति होती है और एक प्रेम लक्षणा भक्ति होती है। तो वैधी भक्ति जो है वह शास्त्रकी, गुरुकी आज्ञा मानकर रोज वह काम करना पड़ता है उतना जप करना है, उतनी पूजा करनी है। श्रीराधारमणजीकी सेवा देखो कैसे होती है। श्रीराधारमणजी महाराज कपड़ा पहनकर भोजन नहीं करते हैं, कपड़ा उतारकर और हाथ-पाँव धोकर और वह सिंहासन पर बैठे-बैठे नहीं करते हैं, यहाँ तो लाकर थाली रख देते हैं—श्रीराधारमणजी महाराज कपड़े बदलते हैं, हाथ-पाँव धोते हैं और चौकेमें जाते हैं और पाटे पर बैठकर पाटे पर जो उनको थाल लगायी जाती है वह भोजन करते हैं और वह गोस्वामी लोग जो हैं वह कोई सिला कपड़ा नहीं पहनते हैं, अपरसका रेशमी कपड़ा पहनकर स्नान करके तब छूते हैं। उनके यहाँ यह वैधी भक्ति है। यह जो वैधी भक्तिका अनुष्ठान है, इससे फिर प्रेमलक्षणा भक्तिका उदय होता है और प्रेम लक्षणा भक्ति फिर पराभक्ति हो जाती है। इसकी चर्चा थोड़ी देरके बाद करते हैं।

श्रीमध्वाचार्यके यहाँ भी श्रीरामानुजाचार्यके समान ही क्रिया योग है और वह पारतन्त्र्यका अनुसन्धान करते हैं कि यह जीव और जगत् बिलकुल स्वतन्त्र नहीं है और अन्तमें उनके यहाँ भी भगवान्‌की शरणागति आती है।

कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि इसे क्रिया योग कहो, वैधी भक्ति कहो, सेवा कहो, वल्लभ सम्प्रदायमें सेवा कहते हैं : वह सेवा भी वित्तजा, तनुजा और मानसी—तीन प्रकारकी सेवा होती है। धनसे सेवा, शरीरसे सेवा और मनसे सेवा। तो यह सब असलमें भक्तिमें है क्या, यह जो लोग

कहते हैं कि हुकुम दे देनेसे हमको भक्ति आजायेगी यह नहीं, भक्तिको अपने अन्तःकरणमें आनेके लिए एक वाहनकी आवश्यकता पड़ती है। न वह सभामें व्याख्यान सुननेसे आती है और न तो 'भक्त हूँ मैं' यह अभिमान धारण करनेसे आती है और न तो कोई टाईटल दे दे डिग्री दे दे कि आप भक्तराज हैं उससे आती है।

भक्तिको हृदयमें लानेके लिए जो क्रिया-कलाप करना पड़ता है वह सब भक्तोंके सम्प्रदायमें तो है ही, श्रीशङ्कराचार्यजी महाराजके सम्प्रदायमें जो अन्तःकरणशुद्धिकी साधना है, उसपर आप थोड़ा-सा ध्यान दें। धर्म, उपासना और योग यह परम्परया अन्तःकरण शुद्धिके साधन हैं और विवेक-वैराग्य- शमदमादि जो हैं ये अन्तःकरण शुद्धिके तो साक्षात् साधन हैं; परन्तु तत्त्वज्ञानके परम्परया हैं। दोनोंमें फर्क है माने तत्त्वज्ञानमें बहिरंग हैं। अन्तरङ्ग साधन श्रवण- मनन आदि हैं। अच्छा! श्रवण-मनन आदिमें भी जो महावाक्यार्थका, तत् एवं त्वं पद लक्ष्यार्थकी एकताका जो साक्षात्कार है वह साक्षात् साधन है और उससे पहले जो श्रवण-मनन आदि हैं वह अवान्तर साधन हैं। साक्षात्कारके अवान्तर साधन हैं। यदि शुद्ध अन्तःकरण होवे तो श्रवण मात्रसे साक्षात्कार हो जावे, मनन, निदिध्यासनकी जरूरत ही नहीं परन्तु यदि अन्तःकरण बिलकुल तैयार न हो तो उसमें देर लगती है। तो होता यह है कि अन्तःकरण शुद्धिके बिना जीवनमें न तो भक्तिकी प्रतिष्ठा हो सकती अन्तःकरणमें और न तत्त्वज्ञानकी योग्यता। इसलिए अन्तःकरणकी शुद्धि आवश्यक है और अन्तःकरणकी शुद्धि विशेष धर्मके द्वारा होती है, सामान्य धर्मके द्वारा नहीं होती। क्योंकि उसका उद्देश्य यदि सामान्य धर्म होगा—समाज सेवा या मानवताकी सेवाका, अन्तर्राष्ट्रीयताकी सेवा—उसका लक्ष्य होगा तो सेवा तो बहुत बढ़िया चीज है परन्तु; मोटर बाहरकी ओर जा रही है, मोटर तो बिलकुल ठीक है और ठीक जगहसे सड़कसे चल रही है; परन्तु वह जा रही है बाहरकी ओर, भीतरकी ओर नहीं जा रही है। इसलिए समाजसेवी लोगोंका जो विधान है वह दूसरा है और अन्तःकरण शुद्ध करके अन्तर्यामी परमेश्वरकी शरणमें होना,

अथवा शुद्धान्त:करण होकर महावाक्यार्थका साक्षात्कार करना वह यह दूसरा प्रसंग आजाता है।

तो, अन्त:करणशुद्धिमें और तत्त्वसाक्षात्कारमें जो बहिरंग और अन्तरंगका भेद है इसका भी कारण है जैसे आप गिलास माँजते हैं पानी रखनेके लिए, तो गिलास माँजते हैं तो बहुत ठीक करते हैं, पानी रखा जाय, यह भी बहुत बढ़िया है, परन्तु पीनेके समय वह ठीक मुँहमें लगे और मुँहके भीतर जाय यह भी तो आवश्यक होगा न! तो गिलास माँजना और उसमें पानी भरना यह बहिरंग साधन है और मुँहमें लगाकर उसको पीना यह अन्तरङ्ग साधन है। माने उसकी गति हमारे हृदयकी ओर, हृदयको तृप्ति देनेके लिए, तुष्टि-पुष्टि, प्यास मिटानेके लिए उसका प्रयोग होना चाहिए। तो यह जो शमदमादि हैं यह संसारके निवर्तक हैं और श्रवण-मनन जो हैं वह तत्त्व वस्तुके बोधक हैं।

पहले हमने देखा था पुराने जमानेमें बन्दूक चलाने वाले लोग, उसमें न जाने क्या-क्या डालकर एक लोहेकी इतनी बड़ी छड़ होती थी—उससे खूब उसको साफ करते थे, तो बन्दूककी नलीको साफ करना दूसरी चीज है और उसमें गोली भरनेके बाद वह जिसको मारना है वह कहाँ है? ठीक लक्ष्य पर दृष्टि जाना यह दूसरी बात है। तो यह जो अन्त:करण शुद्धिके साधन हैं वह तो बन्दूककी नली साफ करनेके समान है और जिनको लक्ष्यार्थका ज्ञान है वह तो बिलकुल लक्ष्य पर निशाना लगानेके समान है। तो; बन्दूकको साफ करना यह बहिरंग हो गया और वस्तुको देखना यह अन्तरङ्ग हो गया। हम कहते हैं आँखसे कोई चीज पढ़ना चाहते हैं परन्तु; आँख पर कोई ऐसा पानी आ गया है कि नहीं देख पाते, एक दवा डाल दी आँखमें तो आँख साफ हो गयी। आँखको साफ करना यह बहिरंग साधन है परन्तु; आँख साफ होने पर भी जिस चीजको देखना है उसको अगर नहीं देखेंगे तो वह साफ की हुई आँख भी तो बेकार गयी ना! साफकी हुई आँखकी सफलता तब है जब जिस चीजको देखनेके लिए आँख साफकी गयी है वह चीज देखी जाय।

तो अब यह है कि श्रीरामानुज, श्रीवल्लभ, श्रीनिम्बार्क, श्रीमध्व,

श्रीचैतन्य महाप्रभु, ये जितने भी हमारे आचार्य हुए हैं, शैव, श्रीकंठ, श्रीकर, शाक्त, गाणपत, सौर आदि सब आचार्योंका कहना है कि अन्त:करण शुद्धिके लिए जो आप क्रिया कलाप करें वह बाह्य दृष्टिसे न हो, अपनी मनोवृत्तियों पर जो अनियन्त्रण है उसको दूर करनेके लिए हो। और अनियन्त्रण दूर होने पर भी वासनाएँ रहती हैं। हम अपने मनको रोक सकते हैं लेकिन; वासनाएँ सब-की-सब भरी रहती है। तो, अनियन्त्रण दूर हो और वासनाएँ दूर हों—यह दोनों बात आती है आसन- प्राणायामके द्वारा हम अनियन्त्रणको तो दूर कर सकते हैं परन्तु; वासनाको दूर करनेके लिए वैराग्य होना आवश्यक है। यदि वैराग्य नहीं होगा तो वासना दूर नहीं होगी।

हमारे श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज वैराग्य पर कितना जोर देते थे, उनका तो कहना था वैराग्यके बिना एक कदम भी कोई परमार्थके मार्गमें नहीं चल सकता। ये जो लष्टम्-पष्टम् चेलोंकी संख्या बढ़ायी जाती है यह उनको बिलकुल पसन्द नहीं थी। बल्कि कई लोगोंको तो उन्होंने दूसरोंके पास भेज दिया, ऐसे कह दिया कि तुम्हारे गुरु वह हैं उनके पास जाकर तुम उनसे दीक्षा लो। ये हमारे गोविन्ददासजी जो हैं ये कलाधारियोंके अधिकारी थे, इन्होंने चार दिन या पाँच दिन कर्णवासमें अनशन किया था महाराजजीकी कुटियाके पीछे बैठकर कि हमको आप मन्त्र दीक्षा दे दीजिये, शिष्य बना लीजिये, महाराजजीने कहा कि 'बेटा मैं तुम्हारा गुरु हूँ ही नहीं, तुम्हारे गुरु तो कलाधारीके महन्त हैं उनके पास जाओ और उनसे दीक्षा लो।' महाराजजीने भेजा था उनको। चार-पाँच दिन तक वह बिना अन्न-जलके अनशन करके कर्णवासमें महाराजजीकी कुटियाके पीछे बैठे रहे कि हमको आप मन्त्र दीक्षा दे दीजिये। महाराजजीने कहा कि 'नहीं'।

यह जो शिष्य संग्रह है वह वर्जित है क्योंकि संन्यासीके लिए तो संग्रह वर्जित है ही और यह संख्या जो बढ़ाना है इस पर तो विशेष ध्यान देने योग्य होता है।

अच्छा! गुरु और शिष्यका मत यदि दो हो गया, तो शिष्यको

चाहिए कि अपनी मतिको दबाकर गुरुकी मतिके साथ अपनी मतिको मिलावे, और यदि मत न मिले तो फिर गुरु-शिष्यका जो सम्बन्ध है उसमें दरार पड़ जाती है, टूट न जाय तो भी, यदि गुरु बहुत कृपालु हो और मतभेद होने पर भी अपनी ओरसे उसका परिवर्जन न करे, तन्त्र-शास्त्रमें एक परिवर्जनकी क्रिया है। शिष्य बनानेके बाद भी शिष्य गुरुके अनुकूल न चले तो गुरु एक अनुष्ठान करता है कि अब ये हमारा शिष्य नहीं रहा। इसके पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म, साधन-असाधनकी कोई जिम्मेवारी हमारे ऊपर नहीं रही—यह परिवर्जन क्रिया होती है।

अब हम क्या बतावें! आजकल तो सोचते हैं बाबा ये सब कुछ करने वाले नहीं है, जैसे गुरु-पुरोहित ब्याह होने पर बहूको नाम सुना देते हैं कि ये रोटी बनायेगी तो अब इसके हाथकी रोटी खाने लायक हो जायेगी, और यह दीक्षा नहीं ग्रहण करेगा तो इसके हाथका पानी पीने लायक नहीं रहेगा, देहातोंमें जो ऐसी धारणा होती है उसीके अनुसार कहते हैं कि तुम 'नारायण' 'नारायण' करो, 'श्रीकृष्ण शरणं मम' जपो, हम लोग कोई शिष्य-विश्य थोड़े ही बनाते हैं। वह तो कहते हैं—वैसे यह कुछ नहीं करेगा, चलो इस बहाने इसका धर्म संस्कार तो बनेगा। वह तो गुरु-शिष्यका सम्बन्ध तो बड़ा निराला है। बल्कि वह पति-पत्नीका जितना गाढ़ा सम्बन्ध होता है उससे भी एक अंशमें बड़ा है। क्योंकि पति-पत्नीका सम्बन्ध शरीर पर्यन्त होता है और गुरु-शिष्यका सम्बन्ध तो जबतक शिष्यकी मुक्ति नहीं हो जायेगी तबतक है, शरीरान्तरमें भी है। गुरु और शिष्यका सम्बन्ध तो बड़ा घनिष्ठ होता है, वह तो कुछ साधारण है नहीं, इसीसे तन्त्र-शास्त्रमें इसकी एक विधि है कि यह हमारा शिष्य नहीं है गुरुको यह क्रिया करनी चाहिए। नहीं तो शिष्य पाप करेगा तो गुरुको लगेगा। तो बोले कि गुरुका तो पुर्नजन्म नहीं होगा; नहीं होगा तो इसी जन्ममें बीमार पड़ जायेंगे, चेलेके पापसे गुरुजी बीमार पड़ेंगे, इसलिए उनका परिवर्जन ही कर देना चाहिए। रजिस्टरमें-से उनका नाम कटवा देना चाहिए।

यह सब बात मैं आपको सुनाता क्यों हूँ कि असलमें हमारे

जीवनमें भक्ति केवल कहने मात्रसे नहीं आती। ज्यादातर लोग बड़े ऊँचे-ऊँचे रसकी बात करते हैं लेकिन; अपने कदमके नीचे क्या है, करते-धरते कुछ नहीं हैं। वेदान्तियोंमें भी जबानी जमा-खर्च बहुत ज्यादा है और स्वयं अन्तरङ्गका जो अनुसन्धान है अपने स्वरूपका वह बिलकुल नहीं है।

तो, भक्तिको चाहिए वाहन। और वह वाहन पहले तो हकका होना चाहिए; किसीकी मोटर सड़कपर खड़ी है और उसमें बैठकर चालू किया और जहाँ मौज हुई वहाँ चले गये, सत्सङ्ग करने ही चले गये, दर्शन करने ही चले गये यही समझो। तो वह जो दर्शन है, वह जो दूसरेकी मोटर बिना पूछे स्टार्ट करके चले गये उसका अपराध नहीं लगेगा सो बात नहीं है। वह तो अपराध लगेगा और भक्तिके आनेमें प्रतिबन्धक हो जायेगा। नहीं तो यह मोटरकी बात नहीं है। असलमें आप जिस मन्त्रका जप करते हैं वह आपने राह चलते किसीकी मोटरकी तरह ले लिया है। तो वह जिसकी चीज है उससे प्राप्त होना चाहिए माने उसमें सद्‌गुरु होना चाहिए। मन्त्र बिना सद्‌गुरुके चैतन्य नहीं होता है। मन्त्र चैतन्यकी एक प्रक्रिया है। उसके लिए कर्मकाण्ड होता है। और वह शिष्यको ही करना पड़ता है। उसमें सद्‌गुरु, इष्टदेव, आत्मा और मन्त्र; इन चारोंकी एकताका अनुसन्धान किया जाता है— विशेष प्रकारकी क्रिया करके, पूजा करके, वह भी ऐसे नहीं। यह माला होती है ना, मालाको भी चैतन्य किया जाता है। इसको पीपलके पत्ते पर अमुक यन्त्र बनाकर, उसपर स्थापित करके और मालाकी प्राण-प्रतिष्ठा करके, यह हम आप लोगोंको निराश करनेके लिए, या आपके मनमें हीनताका भाव पैदा करनेके लिए यह बात नहीं सुना रहे हैं। सुना रहे हैं इसलिए कि यह जो आप लोग मान लेते हैं कि यह भी भगवान्‌की सेवा हो गयी, यह भी भक्ति हो गयी, उसमें भक्तिमें आपकी वृत्तिका मुँह अन्तर्यामी परमेश्वरकी तरफ मुड़ना चाहिए और पहले अपने भीतर वाले अन्तर्यामीको जब देख लेंगे तब सबके भीतर वाला अन्तर्यामी आपको दीखने लगेगा, जब तक अपने भीतर वाले अन्तर्यामीका साक्षात्कार नहीं

होगा तबतक सबके भीतर वाले अन्तर्यामीके बारेमें भी आप ठीक-ठीक समझ नहीं सकेंगे, उसका अनुराग नहीं होगा इसलिए पहले अपने भीतरवाले अन्तर्यामीको समझना चाहिए।

अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने सात साधन बताये हैं। एक तो—

1-विवेक; विवेक माने यह वेदान्तियोंवाला विवेक नहीं, भोजनका विवेक, आहारकी शुद्धि, वह भोजन जन्मसे शुद्ध हो, प्याज-लहसुन न हो, मांस न हो, जात्या शुद्ध हो उसमें कोई ऐसी गन्दी चीज मिलायी न गयी हो, निमित्त शुद्ध हो, जिस स्थानमें बनाया जाय, जो बर्तन हो वह आश्रय शुद्ध हो और ईमानदारीकी कमायी हो। तो जाति शुद्ध, निमित्त शुद्ध, आश्रय शुद्ध, न्यायोपार्जित हो, इसका नाम विवेक होगा और **2-विमोक**—जो दुर्गुण त्यागना है उसको छोड़ देना चाहिए। 3-अभ्यास, 4-कल्याण 5-क्रिया, 6-अनवसाद, 7-अनुद्धर्ष। ये साधन ससक उनके यहाँ प्रसिद्ध हैं। यह प्रत्येक साधकको करना पड़ेगा। जबतक वह नहीं करेगा तबतक अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होगी और अशुद्धान्तःकरणमें भक्ति भाव, भगवद्-अनुस्मृतिका उदय नहीं होगा। तो कुल मूल बात जो है भक्तिकी हम उसपर आते हैं।

वह यह है कि चिन्तन अपनी ओरसे होना चाहिए और वह चिन्तन होना चाहिए भगवान्‌का। अपने-अपने मतके अनुसार, सन्तके अनुसार, आचार्यके अनुसार, गुरुके अनुसार—उसे भी हम मना नहीं करते हैं। किसीके अनुसार भी चिन्तन करो परन्तु; जो अपने जीवनमें दोष हैं और दुःख हैं ऐसे आसमान उसको दूर नहीं करेगा। वह पहलेसे आपके दिलमें मौजूद है उसीमें ये सारे दोष दुःख पनपते हैं। यह साँस जो आप लेते हैं उससे भी दूर नहीं होगा। जो आप देखते हैं उससे भी दूर नहीं होगा, खानेसे भी दूर नहीं होगा। सोनेसे भी दूर नहीं होगा। सामान्य जीवनसे वह दूर नहीं होगा—उसके लिए विशेष जीवन स्वीकार करना पड़ेगा। तुलसीकी गन्ध सूँघिये भगवान्‌को चढ़ाई हुई। भगवान्‌का प्रसाद पाइये। भगवत्-चर्चाका श्रवण कीजिए। तो यह शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध

रूपी वाहन पर आरूढ़ होकर, भक्ति महारानी है, उसको अपने हृदयमें आनेके लिए पालकी चाहिए। वो शिविका पर चढ़करके आवेगी तब वह आपके हृदयमें आवेगी ऐसे कोई वह राह चलती नहीं है कि हम तो भक्तराज बनकर, तो भक्ति महारानीको लानेके लिए कुछ उपाय करने पड़ते हैं।

भक्तिमें सबसे बड़ा बल यह है कि भक्तिके हृदयमें भगवान् हैं। आप अपने गुरुका चिन्तन कीजिए, आप अपने गुरुका ध्यान कीजिए और यह देखिए कि आपके गुरुके हृदयमें आपके इष्ट देवता हैं; आपके ध्यानमें आपका इष्टदेवता नहीं आता है पर गुरुके ध्यानमें तो आता है ना; अब उनके हृदयमें आपके इष्टदेव प्रकट हो गये। तो आप गुरुके ध्यानके साथ इष्टदेवका ध्यान कीजिए तो कभी इष्टदेव ही दिखेगा, गुरु नहीं दिखेंगे और कभी गुरु ही दिखेंगे; इष्टदेव नहीं दिखेंगे लेकिन यह बात जरूर है कि संसारका जो अनुचिन्तन है उसको छुड़ानेके लिए एक गुरु और परमेश्वरका अनुचिन्तन आपको स्वीकार करना पड़ेगा बिना ध्यानके, बिना चिन्तनके अन्तःकरणकी वासनानाएँ दूर नहीं होंगी, उनकी मलिनता दूर नहीं होगी और यदि वह दूर नहीं होगी तो यदि कभी आपके हृदयमें प्रेम आया भी, आप सच्चे प्रेमको जानेंगे भी, समझोगे भी परन्तु उसको आप ऐसी जगह जोड़ देंगे जहाँसे वासनाकी पूर्ति होती हो। क्योंकि वासना जो है, मूर्ति भी वाहन है, पूजा की क्रिया भी वाहन है; परन्तु जो आपका संकल्प है वह सारथि है। तो यदि आप ईश्वरकी प्राप्तिका संकल्प रखेंगे तब तो आपकी पूजा आपका मन्त्र और आपका जप और आपका ध्यान ईश्वरकी ओर ले जायेगा।

अच्छा! देखो! बात मैं वैराग्यकी कर रहा था। तो; वैराग्य दो तरहका होता है—एक संसारका दोष देखकरके वैराग्य होता है उसको दोष दृष्टि मूलक वैराग्य बोलते हैं और जो लोग ईश्वरमें प्रीति नहीं रखते हैं उनको अपने विवेकके बल पर संसारमें परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख, गुण वृत्ति विरोध दुःख।

हमारे चिन्तनका आलम्बन संसार पहलेसे बना हुआ था वह कट

जाता है। तो यह जो भक्ति है इसके दो अंग हैं; एक तो संसारसे वैराग्य; और एक, जिस ईश्वरकी भक्ति है उसके स्वरूपका अनुसन्धान।

तो एक ओर तो श्रवण-मननसे जो वस्तु आती है उसे भक्ति, भले ही वाच्यार्थके रूपमें ही आवे। वाच्यार्थके रूपमें एक ओरसे तो भक्ति ईश्वरको लेने लगती है और दूसरी ओरसे संसारको निकालने लगती है। तो, भक्तिके जो दो बेटे मानते हैं ज्ञान और वैराग्य उसका अर्थ यह है ज्ञान जो है वह तो ईश्वरका आविर्भाव है हृदयमें और वैराग्य जो है वह प्रपंचका निस्सारण है, प्रपंचको निकाल दिया। ये दोनों चीज भक्तिसे हमारे जीवनमें आती है, और इस भक्तिको भक्तिके सब आचार्य स्वीकार करते हैं, भले इसका नाम वैधी होय, मर्यादा होय, क्रिया योग हो, सेवा होय; (वल्लभाचार्यजी सेवा बोलते हैं) कोई भी हो यह करके अपने जीवनमें लाना पड़ता है और वृत्तिको चाहे विवेकके द्वारा दोष चिन्तन हो और चाहे परमेश्वरका अनुचिन्तन हो दोनोंके द्वारा अपने हृदयमें-से संसारको निकालनेकी और ईश्वरको भरनेकी।

हम वेदान्तियोंकी इस बातको अभी छोड़ देते हैं कि भक्तिसे वाच्यार्थ आता है हृदयमें कि लक्ष्यार्थ आता है? इस बातको बिलकुल छोड़ देते हैं। लेकिन; यदि वाच्यार्थ ही नहीं आवेगा तो लक्ष्यार्थ क्या आवेगा हृदयमें? जिसको तट पदका अर्थ ज्ञात नहीं है, तटपदका वाच्यार्थ, और गङ्गा पदका वाच्यार्थ; गंगा पदका वाच्यार्थ धारा है, जलधारा जिसको ज्ञात नहीं है और तट पदका वाच्यार्थ तट जिसको ज्ञात नहीं है; दोनों वाच्यार्थ यदि ज्ञात नहीं हैं और घोष क्या होता है तो 'गङ्गायां घोषः' इस वचनका जब वाच्यार्थ ही ज्ञात नहीं है तो लक्ष्यार्थ कहाँसे निकालेगा? गङ्गापदका वाच्यार्थ मालूम नहीं है और घोष पदका वाच्यार्थ मालूम नहीं है और तट भी अज्ञात है तो अज्ञातमें लक्षणा कैसे होगी?

इसलिए जब भक्ति भवानी, भगवती भक्ति जब वाच्यार्थको अपने हृदयमें ले आती हैं और संसारको निकाल देती हैं तब उस वाच्यार्थके साथ अपने अन्तःकरणका सम्बन्ध साफ मालूम पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि एक तो है वाच्यार्थ और एक है हमारे अन्त:करणका सम्बन्ध; वह तो सबके अन्त:करणका सम्बन्ध उस वाच्यार्थके साथ होना चाहिए। वह वाच्यार्थ केवल हमारे ही अन्त:करणके साथ उस वाच्यार्थ रूप अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर प्रभुका सम्बन्ध है तो उसका असङ्ग होना भी अनिवार्य है। सबके संग होना माने असंग होना। अच्छा! उसकी व्यापकता भी अनिवार्य है। और उसकी उपादानता है तो या तो परिणाम हो या तो विवर्त हो दोनोंमें-से एक छाँटना ही पड़ेगा यदि उपादानता उसमें है तो। यह जो वाच्यार्थ है जब इसका ठीक-ठीक अनुसन्धान होने लगेगा तो लक्ष्यार्थपर अपने आप ही दृष्टि जायेगी क्योंकि जब तात्पर्यानुपपत्ति होती है, एक तात्पर्यानुपपत्ति होती है जो अर्थ सम्बन्धी होती है और एक अन्वयानुपपत्ति होती है वहाँ भी लक्षणा होती है, तो वो वाक्य सम्बन्धी है और जहाँ तात्पर्यानुपपत्ति होती है वहाँ भी लक्षणा होती है तो वह अर्थ सम्बन्धी है। अर्थ सम्बन्धी लक्षणा होती है तात्पर्यानुपपत्तिसे और शब्द सम्बन्धी जो लक्षणा होती है वह होती है अन्वयानुपत्तिसे।

तो आओ, जब उस वाच्यार्थ पर प्रपंचका एक दम विस्मरण करके जब हम वाच्यार्थको देखने लगेंगे वह आकाशादिका, जगत् जन्मादिका कारण है। वह सर्वान्त:करणका प्रेरक है 'धियो यो नः प्रचोदयात्' वह सबका प्रकाशक है और वह ऐसा है, वह ऐसा है तो अपने आप ही वाच्यार्थकी परिच्छिन्नता जो है अन्त:करणकी उपाधिसे, उस अन्त:-करणकी उपाधिसे आनेवाली जो परिच्छिन्नता है उसमें लक्षणा करनेके लिए अपने आप ही अवकाश मिल जायेगा। इसलिए भगवान्‌की जो भक्ति है वह एक ओरसे तो प्रपंचसे वैराग्य देती है और दूसरी ओरसे ईश्वरके स्वरूपको लाकरके अपने हृदयमें प्रगट करती है।

अब यदि हम क्रिया योग या मर्यादा या सेवा या वैधी भक्ति इनकी चर्चा छोड़कर; यदि प्रपंचका विस्मरण हो गया और भगवद् अनुसन्धान ही होने लगा और सहज स्वभावसे होने लगा; जगत् भूल जाय और मैं याद रहे तो अभी पराभक्ति नहीं आयी भला! यदि जगत् भी भूल जाय और

मैं भी भूल जाय केवल परमेश्वर रहे तो पराभक्ति आ गयी। भक्तिमें 'मैं'का स्फुरण होना यह भक्तिकी पराकाष्ठा नहीं है। ईश्वरकी याद रहे 'मैं'की याद क्यों रहे? जगत्को भूल जाना यह पहला कदम है भक्तिमें, और मैं को भूल जाना यह दूसरा कदम है भक्तिमें, और केवल परमेश्वर ही परमेश्वर रहे यह तीसरा कदम है भक्तिमें। यह है जिसको साधन भक्ति कहते हैं उसकी चर्चा। इसके बाद आती है रस भक्ति।

वह रसभक्ति बड़ी विलक्षण है। वह तो जैसे वेदान्ती लोग बोलते हैं कि सन्मात्र है जैसे छान्दोग्योपनिषद् वाले बोलते हैं कि सन्मात्र है—
'सदेव सोम्येदमग्रे आसीत्।'

बृहदारण्यक उपनिषद् वाले बोलते हैं—

'आत्मा वा इदमग्र आसीत्।'

जो ब्रह्म वही सत् है, वही आत्मा है। तीन श्रुति तीन जगह बोलती है पर तीनों पागल तो नहीं हैं ना। तीनों मिलकर मत्त प्रलाप तो नहीं कर रही हैं। तीनों मिलकर कोई एक बात कह रही हैं। और वह जो एक- वाक्यता है, यहाँ तक कि हमारे जो विद्वान् महापुरुष थे, बल्कि मैंने तो हरिहर कृपालु जी और अनन्तकृष्ण शास्त्रीके शास्त्रार्थमें यह बात सुनी थी। अनन्त कृष्ण शास्त्रीका कहना था कि श्रुतिका एक खण्ड भी यानि पूरी श्रुति नहीं, पूरा मन्त्र नहीं, श्रुतिका जो एक खण्ड है एक वाक्यांश है, वह वाक्यांश भी अखण्डार्थका निरूपण किये बिना, वह खण्ड वाक्य भी चरितार्थ नहीं होता है। इसलिए सब श्रुतियोंकी एक-वाक्यता होनी चाहिए, बल्कि श्रुति-खण्डोंकी भी एक वाक्यता होनी चाहिए। वह कहते थे कि श्रुतियोंका ही नहीं श्रुतिखण्डोंकी भी एक वाक्यता होनी चाहिए नहीं तो श्रुति जो हैं वह बिलकुल उन्मत्त प्रलाप हो जायेगी, तो ऐसी स्थितिमें हमारे जीवनके लिए भक्ति जितनी उपयोगी सिद्ध होती है अन्तःकरणकी शुद्धिमें, विवेक निर्बल है। क्यों निर्बल है? कि उसमें जो जीवत्वका बोध है वह विवेकका हेतु है और जीवत्वके बोधमें इतना बल नहीं है कि वह समग्र प्रपंचकी वासनाका तिरस्कार कर सके। परन्तु; भक्तिमें समग्र ईश्वरका बोध होनेके कारण,

माने भक्तिके पक्षमें इस युक्तिको देखो, इस वाचो युक्तिको देखो कि भक्तको यह आश्वासन मिल रहा है कि समग्र प्रपंचका जो निर्माता है, अन्तर्यामी है, नियन्ता है वह हमारी मदद करनेके लिए हमारे हृदयमें आ पहुँचा है। तो बड़े बलके साथ हम प्रपंचका निरसन कर सकते हैं। इसलिए यह बात कही।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज सीधे बोलते थे। वह कभी-कभी बहुत दो टूक बोलते थे। यह जो भक्त लोग हैं महाराजके पास इनके सामने तो वेदान्त वह सुनाते नहीं थे। जहाँ वेदान्तकी चर्चा प्रारम्भ हुई तो कहें—'जा! जा!! तू ज्प कर, भजन कर, एकान्तमें बैठ, तू राधेश्याम राधेश्याम कर, काहेको यहाँ बैठता है?' उठा देते थे। प्राय: चार बजे सुबह, भक्त लोगोंसे तो कह देते थे जाओ तुम भजन करो। उनका कहना था कि भक्तिके साथ हमारा कहीं भी विरोध नहीं है। परन्तु जब यह कहते हैं कि भक्ति ही अवधि है तो हम कहते हैं नहीं, भक्ति अवधि नहीं है भगवान् अवधि हैं। हमारी साधनाकी अवधि, हमारी साधनाका अन्तिम पर्यवसान भक्ति नहीं है परमात्मा है, परमेश्वर है। तुम भक्ति अंशको ही जो जन्म-जन्म और आप्रयष मानते हो वह हमको पूर्णत: स्वीकार है। अवधि जो है वह परमात्माका स्वरूप है और परमात्मा ही अवधि है, अवधि तो है पर आत्माका साक्षात्कार हो जाने पर अविद्याकी निवृत्ति हो जाने पर, अविद्या की निवृत्तिसे उपलक्षित जो शेष वस्तु है उसका नाम कुछ भी रख लो वह है परमावधि साधनकी, सिद्धिकी, साध्यकी, परमार्थकी, वह परमावधि है।

भक्ति जो है यह है सर्वोपकारि, सर्वोपयोंगी सर्वावस्थानोपयोगी, बल्कि जीवन्मुक्तके जीवनमें रहे तो उसके जीवन्मुक्तिके सुखको चार चाँद लगा देती है। परन्तु; यदि यह कहो कि भक्तिके आगे परमेश्वर भी नहीं है तो तुम अपने ही सिद्धान्तसे च्युत हो जाते हो। भक्तिसे बड़ा कौन? परमेश्वर! हम परमेश्वरको नहीं छोड़ेंगे। नहीं छोड़ेंगे, यह तो भक्ति लगी रही। तो यह बोलनेकी शैली हुई कि हमको भक्ति भी कभी छोड़नी पड़े तो छोड़ सकते हैं परन्तु; हम परमेश्वरको, प्रत्यग्‌चैतन्याभिन्न

परमात्मतत्त्वको कभी छोड़ेंगे नहीं। यह उनका, इसके सम्बन्धमें बिलकुल स्पष्ट मत था।

महाराज वैराग्यके बारेमें तो जो कुछ बोलते थे उसको सुनकर तो मन्त्री स्वामी इतने घबराये; मन्त्री स्वामीको आप लोग जानते हैं कि नहीं जानते, श्रीकृष्ण बोधाश्रमजीके पास शायद पुरुषोत्तम आश्रम या ऐसा ही कुछ नाम बादमें रखा गया था अभी सम्भवतः हैं वह। वह तो सुनकर ऐसे घबड़ाये कि नाराज ही हो गये बाबा पर। वैराग्यकी बात जब बाबा कहते थे तो वह किसीका, ईश्वरका लिहाज नहीं करते थे वैराग्यकी बात करते हुए।

मंत्री स्वामी बोले—यह क्या बोलते हो? जाकर करपात्री जीसे उन्होंने शिकायत की। करपात्रीजी तो जैसे यह महापुरुष हैं इस समय महात्मा, ऐसे ही थे उस समय ऐसे ही दुबले पतले भी थे, बोलनेमें बड़े निपुण थे और दण्ड भी साथमें, और तेजस्वी तो थे ही, तो मन्त्री स्वामीने करपात्री जी से जाकर शिाकयत की कि बाबा तो ऐसा बोलते हैं तो उन्होंने हँसकर उस बातको टाल दिया था। क्योंकि वह तो उस बातको समझते हैं कि बाबा क्या कहते हैं? धर्म और ब्रह्मका जैसा निरूपण वह करते हैं उसके अन्तरंग स्वरूपका वैसा निरूपण कभी दूसरी जगह सुननेमें नहीं आया, यह बात मैं भरी सभामें कहता हूँ कि मैंने धर्म और ब्रह्मका निरूपण करपात्रीजीके मुखसे जैसा सुना है वैसा दूसरी जगह सुननेको नहीं मिलता है। अब यह बात दूसरी है कि हम लोग दूसरे फण्डमें हैं वह दूसरे फण्डमें हैं। सगुण-निर्गुण दोनोंका ही निरूपण वह करते हैं और भक्ति-वैराग्यका, धर्मका ये जो निरूपण उनका है वह बहुत ही अद्‌भुत है। अब एक मैं अपने अभिमानकी बात सुनाता हूँ।

जब हम अपने मनमें गिनती करने लगते हैं कि संसारमें धर्मका रहस्य जाननेवाले कितने हैं तो उनके बाद हमें अपना ही नाम आता है, यह बात भी बताते हैं। यह बात भी बता देते हैं कि धर्मकी बात, ब्रह्म तो एक ही होता है, इसमें तो हमारा उनका मतभेद है नहीं, लेकिन धर्म समझनेकी जहाँ तक बात है वहाँ तक हम समझते हैं कि धर्मका स्वरूप

वे और हम दो ही समझते हैं, ऐसा हमारे मनमें आता है। आप लोगोंके सामने मैंने कह दिया मैं उसको वापिस ले रहा हूँ। और यह सब समाजकी जो बात है राजनीतिकी, समाज सेवाकी, वह तो परिस्थितिके अनुसार और जिन लोगोंसे घिरे हुए होते हैं; उन लोगोंके अनुसार बहुत बड़ा प्रभाव उसका पड़ जाता है। परन्तु बात जो मूल है उसमें जहाँ धर्मका तत्त्व है वहाँ उनका हमारा मतभेद नहीं है। जहाँ शास्त्रका तात्पर्य हैं वहाँ हमारा उनका मतभेद नहीं है और जो स्वरूपकी बात है वह तो एक है ही, उसमें तो मतभेद की कोई चर्चा ही नहीं वह तो एक ही है। और भक्तिके सम्बन्धमें जो वह कहते हैं; भक्तिके सम्बन्धमें लोग अपने-अपने सम्प्रदायकी बात, ऐसे भी हम कह सकते हैं कि न्यायका कोई बहुत बड़ा विद्वान् तगड़ा, केवल न्यायका मिलेगा परन्तु; उसको वेदान्तका ज्ञान नहीं हुआ और वेदान्तका कोई बहुत तगड़ा विद्वान् मिलेगा उसको न्यायका ज्ञान नहीं होगा। इसी तरह लोग अपने-अपने सम्प्रदायकी बातोंको अच्छी तरहसे जाननेवाले, बहुत अच्छी तरहसे जाननेवाले, हम जितना उनके सम्प्रदायकी बात नहीं जानते हैं, उतना वह लोग अपने-अपने सम्प्रदायकी बात जानते हैं। हमलोग तो केवल चंचु प्रवेशके द्वारा उन सम्प्रदायोंकी बात जानते हैं। परन्तु जो सबका सार-सार है सारे शास्त्रोंका, हम कहीं भी होड़ाचक्रसे लेकर जिसमें लिखा है कि सात दिन होते हैं और पन्द्रह तिथियाँ होती हैं और सत्ताईस नक्षत्र होते हैं और बारह महीने होते हैं ये भी जिसमें सिखाया जाता है वहाँसे लेकर ऋग्वेद पर्यन्त और सब ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत, सूत्र, कल्पसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र ये स्मृति, पुराण इनमें कहीं जो कुछ है उसका हमने अनुकूल विधया चिन्तन किया है और उसमें कहीं भी हमारी दोष दृष्टि नहीं है, हम सबका उपपादन करनेमें समर्थ हैं। इसलिए जो अश्रद्धालु हैं वे तो कहीं भटक गये हैं इसमें तो कोई शंका नहीं है। तो जबतक हमारे हृदयमें धर्मानुष्ठान नहीं आवेगा, प्रपंचसे वैराग्य नहीं होगा, भगवान्की भक्ति नहीं आवेगी अन्तःकरण शुद्धि नहीं होगी, उपनिषदोंके तात्पर्यका अनुसन्धान नहीं होगा, तबतक परमेश्वरका जो

वास्तविक साक्षात्कार है, कल्पित साक्षात्कार तो कहीं भी हो सकता है; पर कल्पित साक्षात्कारकी बात नहीं करते, वास्तविक साक्षात्कार कब मिलेगा; यह बिलकुल एक-एक कड़ी जुड़ी हुई है सन्ध्या-वन्दनसे लेकर यज्ञोपवीत धारण करनेके बाद, सन्ध्या-वन्दनसे लेकर और ब्रह्मसाक्षात्कार पर्यन्त इसमें एक कड़ीको भी जो अलग कर देता है—उसकी सीढ़ी टूट जाती है।

एक बात आपको सुनाते हैं बड़ी मीठी हैं, मैं एक महात्माके पास गया और यही प्रश्न मैंने उनसे किया कि जब सरकार मिल जायेंगे; सरकार ही बोलते हैं, यहाँ युगलसरकार बोलते हैं—अयोध्याजीमें भी सरकार बोलते हैं। मैंने कहा कि जब सरकार मिल जायेंगे तब क्या होगा? तो उन्होंने कहा कि देखो महलके दरवाजे तक तुम ठीक-ठाक श्रृंगार करके जाओ और फिर किवाड़ी खटखटाओ जब किवाड़ी खुल जाय और महलका जो मालिक है वह तुमको भीतर लेकर किवाड़ी बन्द कर ले, अपने भीतर कर ले, उसके बाद वह तुमको नंगा करता है कि तुमको भूखा रखता है कि मारता है कि महलमें बिठाता है, तुमको प्रेयसी बनाता है कि दासी बनाता है इससे तुम्हारा क्या मतलब? तुम हमसे बस इतना ही पूछो कि महलके किवाड़ कैसे खुलते हैं? यह किवाड़ खुल जाने दो फिर भीतर जानेके बाद उसकी मर्जी होगी सो करेगा, उसके पास तो हम जा ही रहे हैं।

अब महाराज जब ब्याह करके सुहागरात मनानेके लिए अपने प्रियतमके कमरेमें पहुँच गये तब वह क्या करेगा क्या नहीं करेगा पट्ठा, इसका क्या पता है, और यदि उसमें कुछ परहेज हो तो बाबा किवाड़ी खटखटाओ मत और चुप रहो, तब उससे छेड़छाड़ मत करो, और भीतर जानेके बाद उसकी फिर जो मर्जी होगी सो करेगा तुम कोई शर्त लिख-लिखके कि देखो हम तुम्हारे पास आये हैं तो इस शर्तके अनुसार तुमको रहना पड़ेगा, यह उसके सामने कोई शर्त मत रखो, यह बात हमको एक महात्माने सुनायी थी।

तो, तत्त्वज्ञान होनेके अनन्तर शास्त्र और ईश्वर भी तत्त्वज्ञके

नियामक नहीं होते और यदि वह स्वेच्छासे किसी नियमका पालन करता है। तो जैसे ईश्वर लीला करता है वैसे वह तत्त्वज्ञकी भी लीला होती है।

किसीकी आज्ञा मानकर शौच-पवित्रता नहीं, स्नान नहीं, मुँह धोना नहीं, यह नहीं कि मुँह धोना ही पड़ेगा, नहीं धोओगे तो हम तुमको छूएँगे ही नहीं।

किसीकी आज्ञा मानकर नहीं करते हैं, दूसरा भी नियम हम किसी शास्त्र-वास्त्रकी आज्ञा मानकर नहीं करते हैं। तब?

जैसे ईश्वर लीलासे करता है वैसे करते हैं। एक बात बड़ी कड़वी है, संन्यास सम्प्रदायके अनुयायिओंको शायद अच्छी न लगे लेकिन; बात चूँकि हुई है इसलिए हम एक तथ्यके रूपमें उसको कह रहे हैं, चूँकि वैसा इतिहास है, हुई है इसलिए कह रहे हैं।

प्रयागके कुम्भमें एक प्रश्न जयदयाल गोयन्दकाने उठाया कि तत्त्वज्ञान होनेके बाद अविद्या लेश रहता है कि नहीं रहता, यह बड़ा जोरदार सत्संग हो चुका है उस समय, जब जयेन्द्रपुरीजी महाराज माने कृष्णानन्दजीके भी गुरु नरसिंह गिरिजीसे भी पहले, महेश्वरानन्दजीसे भी पहले जैयेन्द्रपुरीजी महाराज थे तब; तो सब मण्डलेश्वरोंका यह कहना था कि यदि अविद्या लेश नहीं रहेगा तो गुरु- शिष्यका सम्बन्ध कैसे चलेगा? सम्प्रदाय परम्पराका निर्वाह कैसे होगा? तो सब लोगोंकी राय यही थी, उन्होंने महाराजसे भी पूछा। महाराज पहले तो बोलते ही नहीं थे चुपचाप हँस दिये। बोले—नहीं महाराज! आप अपनी राय बताइये तो उन्होंने कहा कि—जब रज्जुका ज्ञान हो गया तो क्या सर्पका लेश वहाँ रहता है? जब ब्रह्मज्ञान हो गया तो अविद्याका लेश कुछ रहा क्या? नहीं! तब सेठजीने कहा कि शङ्कराचार्यजीने ऐसा लिखा है, उनके मतमें अविद्या...., लोग ऐसा बताते थे, शंकराचार्यजीने सब तरहकी बात लिखी है, उन्हींके मतमें-से विद्यारण्य स्वामी आदिने आभासवाद निकाला। उन्हींके मतमें-से भामतीकारने अवच्छेदवाद निकाला, उन्हींके मतमें-से विवर्णकारने प्रति बिम्बवाद निकाला, उन्हींके मतमें-से

प्रकाशानन्द सरस्वती आदिने एक जीववाद निकाला, दृष्टि-सृष्टि वाद। तो उनका लेख ऐसा है कि उसमें-से सब कुछ निकलता है। पर मैं वह उत्तर जो महाराजजीने दिया शायद किसीको अच्छा न लगे, इसलिए आपको सुनाता तो हूँ। उन्होंने कहा कि 'यह जो शङ्कराचार्यजीका नाम आप ले रहे हैं वह शंकराचार्य स्वप्नद्रष्टा हैं कि स्वप्नपुरुष हैं।' तो तत्त्वज्ञानीको यह दिखाना कि यह श्लोक यहाँ लिखा है और यह बात यहाँ लिखी है दस्तावेज दिखा-दिखाकर, जिसने अपनी आँखोंसे सारी दुनियाको, और दुनियाके रहस्यको और दुनियाके अधिष्ठानको देख लिया उसके सामने ले जाकर हस्ताक्षर दिखाना यह नहीं बनता है।

स्वातन्त्र्यहीन बोध तो मल है। जिस बोधमें स्वातन्त्र्य नहीं है वह तो बोध नहीं है, मल है। इसलिए तत्त्वज्ञानके बाद क्या होता है? यह बिलकुल मत पूछो। वहाँ भी यदि कोई व्यक्तिभाव रहता हो, कोई व्यक्तिका अभिमानी रहता हो तो क्या करेगा क्या नहीं करेगा यह प्रश्न होता। जब वहाँ व्यक्ति नहीं है व्यक्तिका अभिमानी नहीं है तो वह जैसा है वैसा है। बस जैसा तत्त्वज्ञ है वैसा ही तत्त्वज्ञ होता है।

एक महात्माके पास हम लोग गये तो उनसे प्रश्न तो यह था कि 'योगी आजकल कोई है कि नहीं?' तो उन्होंने बड़ी भारी कथा सुनायी, और कथा सुनाकर बोले कि भाई लोग हम पर भी योगी होनेका शक थोड़ा तो करते ही हैं। तो यदि हमसे कोई पूछे कि ज्ञानी कैसा होता है तो हमको यही कहना पड़ेगा कि ऐसा होता है। यदि ऐसा ज्ञानी आपको मान्य नहीं है तो आप जाइये दुनियामें ढूँढिये। अब हमको ढूँढनेकी जरूरत नहीं है। पर कोई पूछे कि ज्ञानी कैसा होता है तो उसका उत्तर यही है कि ऐसा होता है।

अब आप हड्डी-मांसको देखिये तो हड्डी-मांस है ज्ञानी। और आप आत्माको देखिये तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त है। और आप अद्वितीय ब्रह्मको देखिए तो ज्ञानी अद्वितीय ब्रह्म है। आपको जितना दिखता है उतना है, पर ज्ञानी ऐसा ही होता है।

× × ×

महाराज....! हड्डी-मांस-चाम—यह गन्दा शरीर आपको छूने लायक नहीं है। हम अलग रहते हैं भला! रेशमी कपड़ा पहनते हैं, अपरसके कपड़े पहनते हैं, यज्ञोपवीत पहनते हैं, सन्ध्यावन्दन करते हैं। आप देखो यह अस्पृश्यता जिसको बोलते हैं दूसरेको हीन समझकरके उसको न छूना यह दूसरी बात है। यह भी स्मार्त धर्म है। परन्तु योग्य धर्म यह है कि जब हम अपने ही शरीरको गन्दा समझ करके और उसमें 'मैं-मेरा' भी करते हैं तो हम दूसरेके शरीरको छूकर उसमें 'मैं- मेरा' कैसे करें? यह योग धर्म है। 'अयं तु परमो धर्मा: यत् योगं दर्शनम्' याज्ञवल्क्य स्मृतिके प्रारम्भमें ही कहा गया कि यह धर्म नहीं है परम धर्म है। परम धर्म है कि योगके द्वारा आत्म दर्शन प्राप्त किया जाय।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!

★

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य

वेदान्त	
मुण्डक सुधा	110.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्रकरण) भाग-1	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	80.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) भाग-3	120.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात शान्ति) भाग-4	100.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
केनोपनिषद्	70.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	200.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	60.00
श्वेताश्वरोपनिषद् (सजिल्द)	150.00
कैवल्योपनिषद्	10.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	10.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1 (अध्यास भाष्य)	60.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	60.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	55.00
दृग दृश्य विवेक	80.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	80.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	60.00
वेदान्त बोध	60.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	70.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00
आनन्द सूत्र	12.00
आनन्दानुभव	20.00
जीवन्मुक्ति विवेक	120.00
अष्टावक्रगीता	60.00
ध्यान और ज्ञान	50.00
आत्मोल्लास	15.00

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान

- प्रधान कार्यालय : **सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट,** विपुल 28/16 बी. जी. खेरमार्ग मालाबार हिल, मुम्बई-400006, फोन : (022) 23682055
- शाखा कार्यालय : **सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट,** श्री अखण्डानन्द पुस्तकालय आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन-281124
  फोन : (0565) 2913043, 2540561, 3292119

[illegible] स्वामीजी [illegible] भगवान

[illegible] उपलब्ध साहित्य

[illegible]

15.00

[illegible]

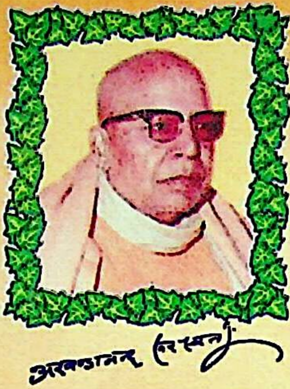
● [illegible] प्रकाशन ट्रस्ट, [illegible] 28/16 बी. जी. [illegible]

[illegible] मुंबई-400 [illegible] फोन : (022) [illegible]

● [illegible] प्रकाशन ट्रस्ट, श्री [illegible]

[illegible] उत्तर प्रदेश-281 [illegible]

फोन : [illegible]



ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़िया बाबा

(जन्म शती महोत्सव के अवसर पर संस्मरण)

कहते हैं मनुष्य जीवन दुर्लभ है-हम चाह कर भी पुनः मनुष्य ही हो जॉय यह सम्भव नहीं जान पड़ता, फिर मनुष्य जीवनमें आराधना-साधना-जिज्ञासाका उदय होना बड़ा मुश्किल है और यदि हो भी गयी तो उसकी पूर्तिके लिए किसी महापुरुषका आश्रय मिलना दुर्लभ है-परन्तु यह अभूतपूर्व मणिकांचन संयोग इसी धरती पर इसी युगमें सम्भव हुआ जब महापुरुष परमपूज्य ब्रह्ममूर्ति श्रीपूर्णानन्द तीर्थ (श्रीउड़ियाबाबा)के सान्निध्यमें मनुष्य रूपमें हमारे महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी जिज्ञासा लिये पहुँचे।

वहाँ उन्हें मिली भगवद्दर्शन पश्चात् स्पष्टता। आराधक, आराध्य, आराधनाके सम्बन्धमें सभी मतों-दर्शनोंके विचार चाहे वह जैन हो, बौद्ध हो, ईसाई हो या ईस्लाम, आर्यसमाज, वैष्णव, रामानुज, निम्बार्क, मध्व या शंकर।

एक जीवनमुक्त महापुरुषकी जीवन शैली और उससे खुद वैसा हो जानेका अनुभव।

उनकी आराधनामें वेदान्त परक अति मधुर बाइस श्लोकोंकी रचना।

यह सब इस पुस्तकमें है पूज्यश्री महाराजश्रीकी स्वयंकी मधुर वाणीके रूपमें। और आप इसमें पायेगें उन दिव्य कालजयी महापुरुषोंकी लीलाओंका वर्णन जिनका अनुभव आज भी होता है। आप भी लाभान्वित हों।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

आनन्द कानन प्रेस
टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337